जैन भारती

वर्ष 52 • अंक 10 • अक्टूबर, 2004

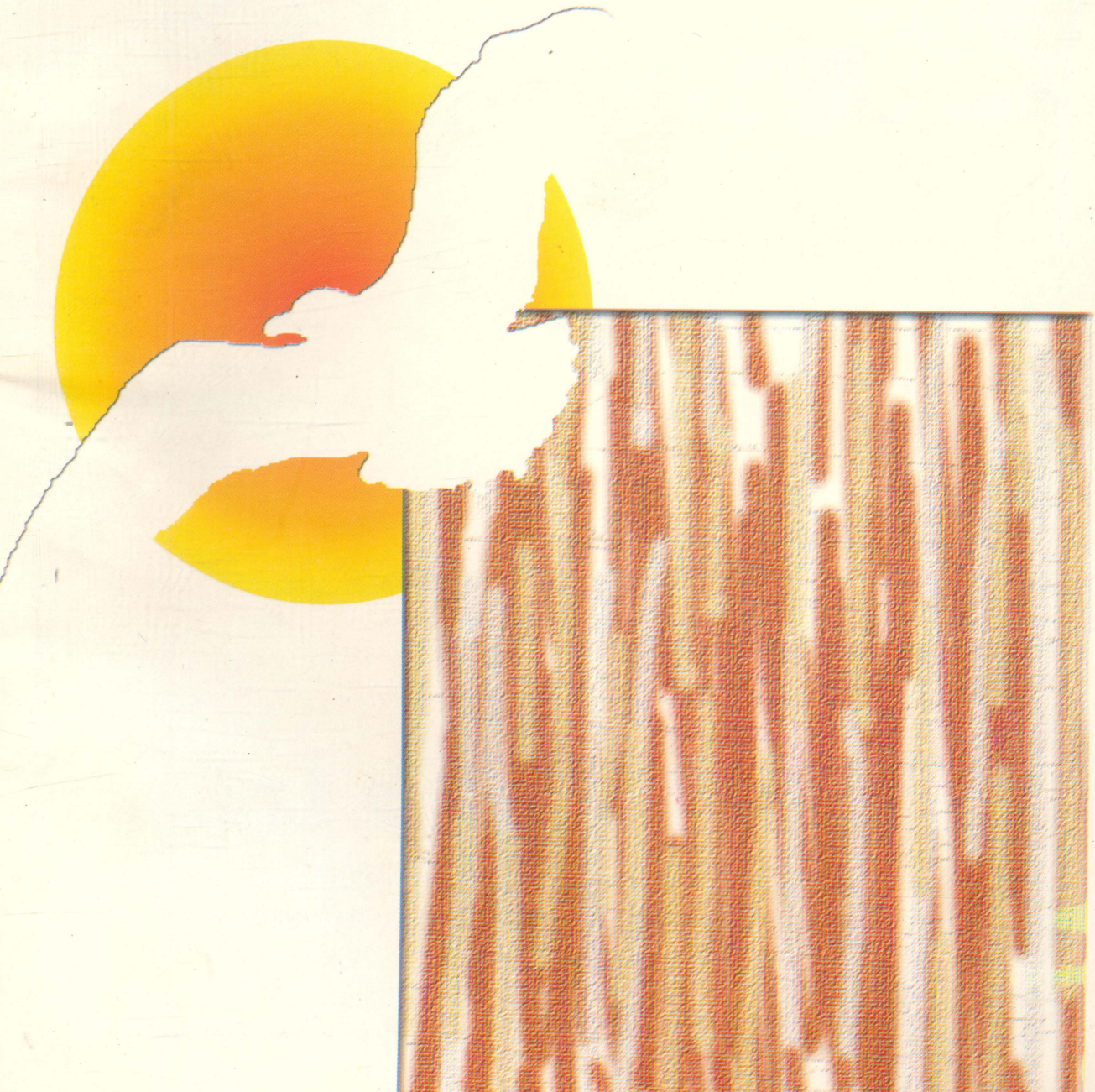

With best compliments from :

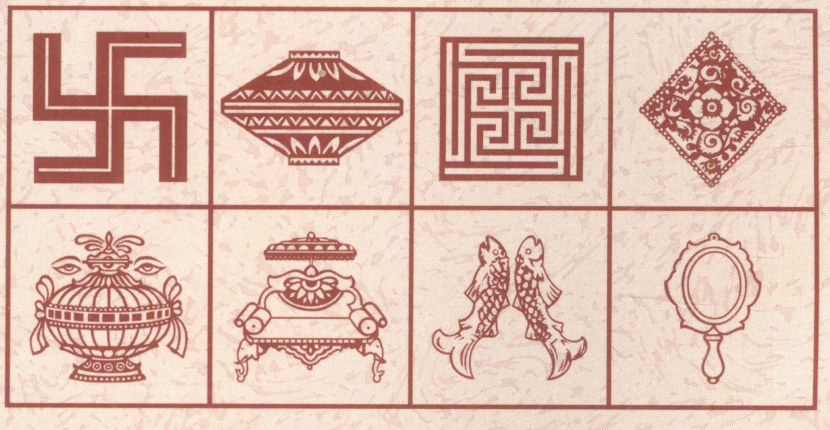

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053

Phone : (O) 22872355, 22253276, (R) 25534815

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 52 • अक्टूबर, 2004 • अंक 10

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अर्थ-व्यवस्था का आध्यात्मिक स्वरूप और कर्मवाद की भ्रांतियां

14
डॉ. राधाकृष्णन
भारतीय विचारधारा की सामान्य विशेषताएं

19
किशोर संत
मानवता और यांत्रिक औद्योगिकीकरण

•

आवरण
अडिग

अनुभूति

25
चतरसिंह मेहता
सत्य : एक विवेचन

30
मुनि जयंतकुमार
स्वस्थ जीवन-शैली के चार सूत्र

34
कहानी
ज्योत्स्ना मिलन
दृश्य से बाहर

40
कविता
भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अहिंसा-आत्मविश्वास

शीलन

43
निहालचंद जैन
चिकित्सा विज्ञान और अध्यात्म

46
मुनि रमेशकुमार
क्षणं जाणाहि पंडिया

49
सुरेश जैन
बन सकते हैं पूर्ण : प्रयास और पुरुषार्थ से

53
बालकथा
प्रदीप पंत
तितली की सीख

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

हमें पुण्य कैसे होगा?

वेषधारी साधु सावद्य दान में पुण्य कहते हैं। समझदार आदमी उसका सही मूल्यांकन करता है। 'तुम असंयती को देने में पुण्य बतलाते हो, सो उसे देते हो या नहीं?'

तब वे कहते हैं—'हम साधु हैं। इसलिए असंयती को देने में हमें दोष लगता है, उसे हम नहीं दे सकते।'

इस विषय में स्वामीजी ने एक दृष्टांत दिया—एक पुरुष से किसी ने कहा—'तुम्हारे शरीर में वायु का रोग है, सो सात मंजिले मकान से छलांग भरो, तुम्हारा वायु रोग मिट जाएगा।'

तब वह बोला—'यह वायु का रोग तुम्हारे शरीर में भी है, पहले तुम छलांग भरो।'

तब पहला पुरुष बोला—'छलांग से मेरी तो हड्डियों का कचूमर निकल जाएगा। तुम्हीं छलांग लगाओ।'

तब वह बोला—'तुम्हारी हड्डियों का कचूमर निकल जाएगा, तो मेरा वायु का रोग कैसे मिटेगा?'

वैसे ही वेषधारी साधु कहते हैं, 'असंयती को देने से हमारा साधुपन भग्न हो जाता है। तुम दो, तुम्हें पुण्य होगा।'

तब समझदार आदमी ने कहा—'जिस दान से तुम्हारा साधुपन भग्न होता है, उस दान से हमें पुण्य कैसे होगा?' ●

संयम का अर्थ है अपने-आप पर नियंत्रण, अपनी इच्छाओं पर अपना नियंत्रण। यद्यपि यह नियंत्रण है, पर सही मानी में सच्ची स्वतंत्रता भी यही है। संयम के लिए अपने-आप में दृढ़ता और आत्म-बल पैदा करना होगा। यह साधारण कार्य नहीं है, पर आत्म-बल को जगाने के लिए असाधारण भी क्या है? सामने अनगिनत भोग्य पदार्थ पड़े हैं, जिह्वा पर वश रखने वाला उनकी सुलभता के बावजूद भी अपने को संयत रखता है। संसार के भोगोपभोग हाथ बांधे सामने उपस्थित हैं, पर संयम के आनंद में उल्लसित मानव उनसे आकर्षित नहीं होता। अभाववश बचे रहना और इंद्रिय-नियंत्रण-पूर्वक बचे रहना—दोनों में यही तो फर्क है।

—आचार्यश्री तुलसी

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में मंगल चाहता है। धर्म को उत्कृष्ट मंगल माना गया है। जिस धर्म में केवल उपासना और क्रियाकांड को ही प्रधानता दी जाती है, वह धर्म वस्तुतः मंगल नहीं होता। वही धर्म मंगल होता है, जिसमें अहिंसा, संयम और तप का समावेश होता है। इस प्रकार की धर्माराधना से मनोबल बढ़ता है और वही समस्याओं से मुक्ति दिलाने में समर्थ होता है।

दुनिया में अच्छाई भी है और बुराई भी है। जो अच्छाई को ग्रहण करने का प्रयास करता है, वह अच्छा इंसान बन जाता है। हिंसा की वृत्ति व्यक्ति को निम्नता की ओर ले जाती है। जिस व्यक्ति के जीवन में अहिंसा, प्रामाणिकता, नैतिकता आदि गुणों का विकास होता है—सही अर्थों में धार्मिक कहलाने का अधिकारी वही होता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

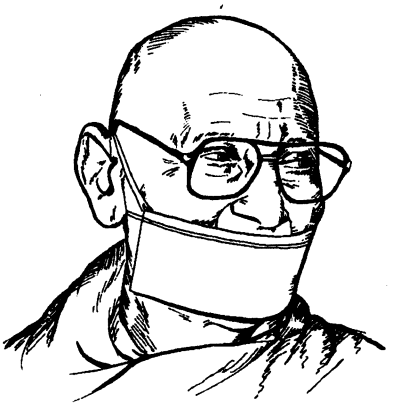

धर्म और उसका संस्थान—ये दो बाते हैं। धर्म अरूप और अमूर्त है, किंतु मनुष्य मूर्त चाहता है। मनुष्य ने ज्ञान का मूर्त पुस्तकें, काल का मूर्त घड़ियां और भगवान का मूर्त प्रतिमा को बना लिया। यही धर्म के साथ हुआ है। उसने धर्म को भी एक रूप दिया है। यहीं से प्रतीकवाद चला। राष्ट्र अमूर्त है, किंतु झंडे के रूप में उसका प्रतीक बना लिया गया है। धर्म का मूर्त रूप मनुष्य ने संस्थान बना लिया। उपनिषद् में वर्णन आता है—'परमात्मा का अकेले मन नहीं लगा, अतः द्वंद्व पैदा किया और आत्मा का विस्तार कर नाम और रूप के आधार पर सृष्टि पैदा की।' नाम और रूप का यही आकर्षण अमूर्त को मूर्त बनाता है।

जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई, हिंदू आदि सभी नाम हैं और उनकी संस्थाएं 'धर्म' का रूप हैं। धर्म अमूर्त है, किंतु नाम और रूप के द्वारा वह हमारे सामने आता है। इसीलिए हर धर्म का अपना नाम और रूप है। लड़ाई इसी नाम और रूप के लिए हुई है। धर्म के लिए कभी भी युद्ध नहीं हुए। जैन धर्म में पंद्रह प्रकार के सिद्ध माने गए हैं। जिनमें स्व-लिंग-सिद्ध, अन्य-लिंग-सिद्ध और गृह-लिंग-सिद्ध—इन तीनों सिद्धों का वर्णन भी मिलता है। जैन वेश में सिद्ध होने वाले स्व-लिंग-सिद्ध, अन्य किसी वेश में सिद्ध होने वाले अन्य-लिंग-सिद्ध और गृहस्थ के वेश में सिद्ध होने वाले गृह-लिंग-सिद्ध कहे गए हैं। इससे स्पष्ट है कि धर्म किसी संप्रदाय-विशेष में ही बंधा हुआ नहीं है, क्योंकि संप्रदाय-वेश के अतिरिक्त गृहस्थ के वेश तक में भी सिद्ध होना संभव है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
अक्टूबर, 2004

प्रसंग

अहिंसा-आत्मविश्वास

आत्मविश्वास के अभाव में क्या अहिंसा फलित हो सकती है? और अहिंसा के अभाव में क्या कभी आत्मविश्वास संभव है? कहना चाहिए—दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, पर आत्मविश्वास के रचनात्मक या सकारात्मक स्वरूप के लिए अहिंसा अनिवार्यतः जरूरी है।

किसी विध्वंसक प्रवृत्ति वाले में भी अटूट आत्मविश्वास हो सकता है, वैसा कृत्य करने का साहस वह तभी जुटा पाता है, पर उसे सामाजिक स्वीकृति अलभ्य होती है। जैसा साहस अपने कृत्य में वह दिखाता है, प्रकटतः वह उतना ही कायर और बुजदिल भी होता है। अपने वैसे कृत्य को वह इसीलिए छिपाता है, सार्वजनिक तौर पर स्वीकार कर लेने की हिम्मत नहीं हो पाती—उसमें। उसका अंतःमन अंदर-ही-अंदर चीखें मारता है, अपने किए का अपराध-बोध मन के एकांत कोने में से बार-बार सिर उठाता है—उसे सालता है, उसके मन को बेधता है। आत्मविश्वास प्रबल होते हुए भी ऐसा जन संतप्त और आत्मपीड़ा से ग्रस्त ही रहता है। क्योंकि उसका ध्येय अहिंसक नहीं, उसका कृत्य रचनात्मक-सकारात्मक नहीं। दो भिन्न अवस्थाओं में प्रकट इस आत्मविश्वास के मध्य यह अंतर न केवल समझना जरूरी है, यह सोचना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसी वृति वाला क्या आत्मविश्वासी भी माना जाए?

आत्मविश्वास को सकारात्मक दृष्टि अहिंसा से ही मिलती है। व्यक्ति की रचनात्मक प्रवृत्ति का उदय अहिंसा से ही संभव होता है और इस प्रकार हमें यह भी मानना होगा कि रचनात्मक जीवन और सकारात्मक व्यवहार के लिए अहिंसा परमावश्यक है, वहीं यह भी मानना होगा कि अहिंसा और आत्मविश्वास का साथ-साथ होना ही व्यक्ति को सामाजिक स्वीकृति प्रदान करता है कि वह एक सामाजिक प्राणी है। आत्मविश्वास से युक्त ऐसा व्यक्ति केवल सामाजिक दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक रूप में भी परिपक्व और दृष्टि-संपन्नता से परिपूर्ण होता है। इस प्रकार यह स्वीकार करना होगा कि अहिंसा और आत्मविश्वास एक-दूसरे के अनुपूरक हैं, साथ-साथ गहरे गुंथे हुए, घुले-मिले हैं।

कोई व्यक्ति इनसे अनुपूरित कैसे हो? इसका उत्तर पाने से पहले हमें यह विचार करना चाहिए कि व्यक्ति चाहता क्या है? समाज में किस तरह के व्यक्ति आमतौर पर पाए जाते हैं? मोटे तौर पर यह माना जा सकता है कि दो तरह के लोग होते हैं—एक स्व-केंद्रित और दूसरे सामाजिक सरोकारों से प्रतिबद्ध जन। ये ही वे लोग होते हैं जिनकी दृष्टि स्पष्ट होनी चाहिए। यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि सामाजिक सरोकार क्या हैं? यहीं पर यह देखना भी जरूरी हो जाता है कि प्रतिबद्धता के चलते कहीं टकराहट के हालात तो पैदा नहीं हो रहे? वैचारिक प्रतिबद्धता का यह अर्थ कदापि नहीं कि हम दूसरे के विचारों का सम्मान न करें। ठीक इसी तरह हमारी सामाजिक प्रतिबद्धता भी किसी

अन्य समाज, जाति या वर्ग के लिए बाधक न बने। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब हमारा आचरण अहिंसा-बोध से प्रस्फुटित हो। असहमति के प्रति सम्मान और सह-जीवन तभी संभव है जब हमारा अहिंसा-बोध प्रखर हो।

हमारा अहिंसा-बोध प्रखर कैसे हो? इस सवाल का उत्तर पाते ही हम इस 'प्रसंग' में उठाए पहले सवाल का उत्तर भी पा लेंगे कि अहिंसा और आत्मविश्वास से व्यक्ति कैसे अनुपूरित हो? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठापना के लिए भावनात्मक तनाव से मुक्त होना होगा।' वे इसका उपाय बताते हुए कहते हैं—'हिंसा से मुक्त होने के लिए उपशम की साधना अपेक्षित है। अहिंसा के विकास के लिए प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास करना होगा।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसके लिए 'उपशम-प्रशिक्षण' की जरूरत बताते हैं। वे कहते हैं—'इस प्रशिक्षण से स्वभाव में बदलाव आता है। ग्रंथि-तंत्र और नाड़ी-तंत्र का संतुलन सधता है। शरीर-तंत्र की क्रियाओं में परिवर्तन घटित होने लगता है। अनावेश और अनावेग की स्थिति का विकास होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में निखार आता है।'

व्यक्ति का ऐसा होना ही महाभारत में कहे इस वाक्य को चरितार्थ करता है—'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'। मनुष्य को सभी प्राणियों में श्रेष्ठ इसलिए नहीं मान लेना चाहिए कि उसका ग्रंथि-तंत्र व नाड़ी-तंत्र अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक विकसित है। मनुष्य के पास विवेक-संपन्न मस्तिष्क है, जो पशुओं में नहीं है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसे भी स्पष्ट करते हैं, कहते हैं—'वास्तव में मनुष्य यदि श्रेष्ठ प्राणी है तो वह दूसरे प्राणियों को सताए नहीं। सबके साथ मैत्री का व्यवहार करे, आत्म-तुल्य व्यवहार करे, तभी उसकी श्रेष्ठता सिद्ध होगी। इसका दुरुपयोग किया गया तो मुझे कहना होगा कि : न मानुषात् हीनतरं हि किंचित् : मनुष्य से हीन प्राणी दुनिया में कोई नहीं।'

हम अपनी परंपरा और संस्कृति पर थोड़ा दृष्टिपात करें। भारतीय परंपरा और संस्कृति का मूल स्वर मैत्री और आत्म-तुल्य व्यवहार ही है। भारतीय परंपरा और संस्कृति को आधुनिक दृष्टि से देखने-समझने वाले प्रखर विचारक श्री नंदकिशोर आचार्य इस पर विचार करते हुए कहते हैं—'भारतीय चित्त इसलिए मानवमूलक नहीं बल्कि समग्रतामूलक है और संपूर्ण मानवीय और मानवेतर सृष्टि के साथ एक आस्तित्विक अद्वैत का संबंध अनुभव करता है। कर्मफल का सिद्धांत उसे केवल अन्य मनुष्यों के प्रति ही नहीं बल्कि संपूर्ण सृष्टि के प्रति उत्तरदाई बनाता है और इस उत्तरदायित्व की पृष्ठभूमि में एक आस्तित्वगत तात्त्विक ऐक्य की भावना काम कर रही है। इसलिए यह स्वाभाविक लगता है कि सृष्टि की प्रत्येक चीज के साथ मनुष्य का रिश्ता एक मर्यादा से अनुशासित हो और मर्यादा-भंग का अर्थ है पाप—जिसका परिणाम उसे अनिवार्यतः भोगना होगा।' आचार्यजी आगे कहते हैं—'....मर्यादा का आधार क्या है? जिसे हम मर्यादा या धर्मसम्मत आचरण कहते हैं, उसकी कोई कसौटी है भी कि नहीं? भारतीय परंपरा में उसकी कसौटी वही है—और शायद वही उसकी सार्वभौमिक कसौटी हो सकती है—जो शास्त्रज्ञ के शब्दों में—दूसरों के प्रति ऐसा कुछ नहीं करना है, जो यदि हमारे प्रति किया जाए तो हमें अप्रिय लगे (आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत)।'

ऐसी मनोदशा का विकास ही मनुष्य को अहिंसक बनने के लिए अग्रसर कर सकता है। इसके बाधक कारकों पर कई बार चर्चा हुई है और यह प्रक्रिया चलते रहना जरूरी है। साथ ही अब इस बात पर अधिक बल देने की जरूरत है कि अहिंसक समाज-संरचना में बाधक तत्त्व असरहीन कैसे हों? अहिंसक मानस-निर्माण के लिए प्रयोगों पर भी लगातार बातें होती रही हैं। अब यह आवश्यक है कि व्यापक स्तर पर ये प्रयोग अमल में आएं और आम-जन में यह चेतना जागे कि मानवीय अस्तित्व पर गहराते संकट से बचने के लिए ऐसे प्रयोगों पर शासकीय और सामाजिक—दोनों स्तरों पर ठोस कदम उठाए जाएं। हम फिर दोहराना जरूरी मान रहे हैं कि किशोर और युवा अवस्था से ही ये प्रयोग अमल में आएं। इसके लिए हमारे शिक्षण संस्थान ही कारगर स्थल हो सकते हैं, जहां शैक्षिक पाठ्यक्रम के अंग के रूप में 'अहिंसा-प्रशिक्षण' को जोड़ा जाए।

कदम तो यह भी उठना चाहिए कि युवजनों के साथ काम करने वाले संगठन भी शिक्षा, स्वास्थ्य और स्वरोजगार जैसे कामों के साथ 'अहिंसा-प्रशिक्षण' को जोड़ें। हम अगर चाहते हैं कि हमारा समाज प्रखर आत्मविश्वास से भरा-तरा बने, तो 'अहिंसा-प्रशिक्षण' के प्रयोगों के लिए अब कोई कसर नहीं छोड़ी जानी चाहिए।

—शुभू पटवा

विमर्श

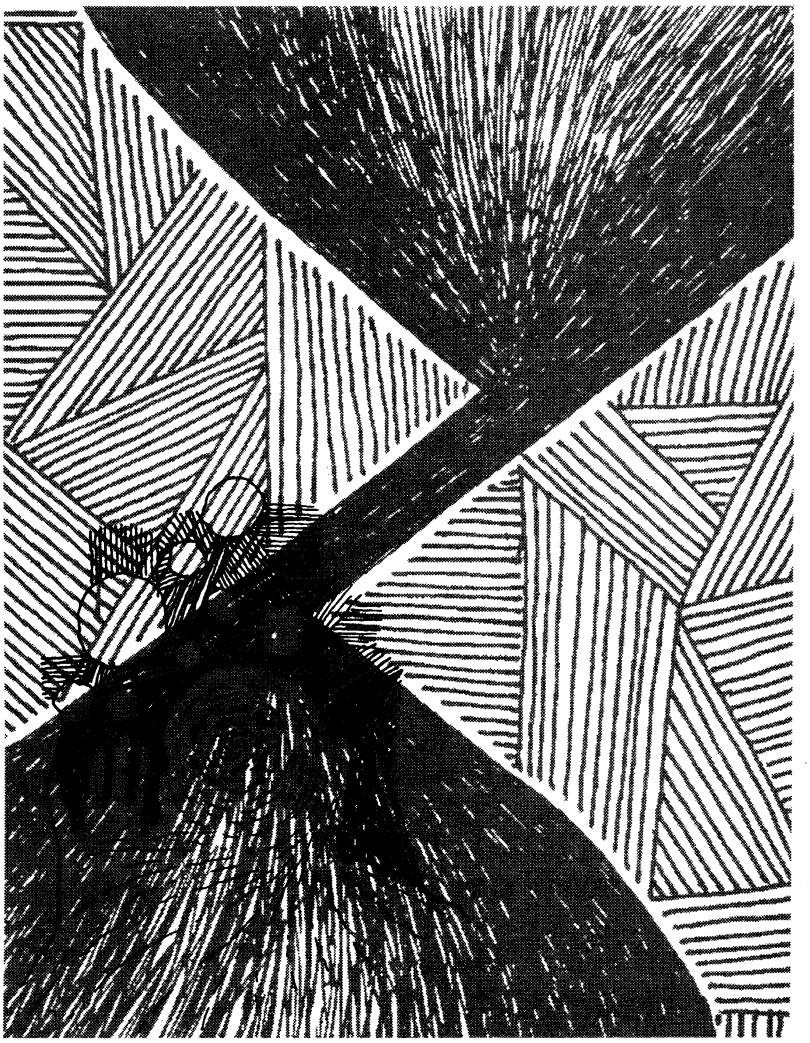

स्वराज्य मिलने के पश्चात देश में सहसा राजनीतिक शक्ति इतनी प्रबल हो गई कि उसने सामाजिक जीवन के अन्य उदीयमान पक्षों को स्वतंत्र रीति से बढ़ने नहीं दिया। सामाजिक जीवन की विभिन्न दिशाओं में जो-कुछ कार्य हो, वह राजनीति का 'स्टैंप' लगकर ही हो और उसका श्रेय राजनीतिज्ञों को ही मिले—इस सर्वग्रासिनी वृत्ति ने राष्ट्रीय जीवन को एकांगी बना दिया है। यह मानते हुए भी कि विदेशी शासन और स्वदेशी शासन में आदर्श का अंतर होता है और जो स्वार्थपरता विदेशियों में थी, वह स्वदेशियों में नहीं है। फिर भी हमारी नई राजकीय सत्ता देश के सर्वतोमुखी जीवन को पूरी आजादी के साथ बढ़ने का अवसर नहीं दे रही है। राजनीति के माध्यम से एक प्रतिबंध लगा हुआ है। कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि हमारे राजनीतिक नेता और दल जनता द्वारा चुने जाने के कारण राष्ट्रीय जीवन के वास्तविक प्रतिनिधि हैं। दूसरे लोग, जो राजनीति में नहीं आए या जो चुनाव नहीं लड़े, वे राष्ट्रीय जीवन के प्रतिनिधि नहीं हैं। इस प्रकार की धारणा हमारे जीवन-विकास के लिए अत्यंत घातक है। यह राजनीति को सामाजिक विकास के अन्य साधनों से प्रधानता देने का एक छद्म प्रयोग है। इसे हम राजनीतिक स्वार्थपरता ही कह सकते हैं। जिस दिन अपने देश में प्रजातंत्र का यह आदर्श बन जाएगा कि राजनीति के माध्यम से आगे बढ़े हुए लोग ही देश के सबसे बड़े और सच्चे प्रतिनिधि हैं, वह दिन सचमुच महान दुर्भाग्य का दिन होगा।

—नंददुलारे वाजपेयी

प्राचीन भारतीय अर्थ-व्यवस्था के चिंतन में एक महत्त्वपूर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है—इच्छा-परिमाण। आज राजनीति के क्षेत्र में चाहे केंद्रित अर्थ-व्यवस्था हो या विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था हो, वहां व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा की बात कही जाती है। महावीर की आचार-संहिता में इच्छा-परिमाण शब्द है। दोनों में अंतर केवल इतना ही है कि आज की केंद्रित अर्थ-व्यवस्था में वह शक्ति के प्रयोग के द्वारा आता है। विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था में शक्ति का प्रयोग उतना नहीं होता, किंतु व्यक्ति की इच्छा से या समाज के कल्याण की दृष्टि से वह कार्य किया जाता है। जबकि इच्छा-परिमाण विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से किया जाता है।

अर्थ-व्यवस्था का आध्यात्मिक स्वरूप और कर्मवाद की भ्रांतियां

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

हमारे सारे प्रयत्न उद्देश्य के साथ होते हैं, लेकिन मुख्य उद्देश्य है—सुख की प्राप्ति और दुख-विमुक्ति। कर्मवाद की मान्यता है कि जब आदमी पुण्य करता है तो सुख पाता है और पाप करता है तो दुख पाता है। धनिकों के लिए कह दिया जाता है कि ये बड़े भाग्यशाली हैं, बड़ा पुण्य किया है, इसीलिए धनी हैं। और कोई गरीब होता है तो लोग कह देते हैं—कर्मों का फल भोग रहा है। स्वयं व्यक्ति भी अपने लिए ऐसा ही सोचते हैं। लोग सुख-दुख को कर्म के साथ जोड़ देखते हैं। कर्म को भी धन और पदार्थ के साथ जोड़कर देखा जाता है। इससे भ्रांति बढ़ी। और फल यह हुआ कि लोग कहने लगे—'धन चाहिए तो धर्म करो, पुण्य करो।' धर्म नहीं करने वालों को कह दिया जाता है, 'अरे, तुम धर्म नहीं करते, परलोक कैसे सुधरेगा?' लोगों ने धर्म-पुण्य और पदार्थ को बिलकुल मिला दिया। आचार्यों ने कहा—'साधना के बिना मनुष्य का जन्म फालतू ही जाता है। अतः धर्म की साधना करो। धर्म की साधना की जाएगी तो अर्थ और काम अपने-आप प्राप्त होंगे।'

वास्तविकता क्या है? धर्म की साधना इसलिए जरूरी है कि काम की वासना समाप्त हो, परिग्रह की भावना समाप्त हो। किंतु कर्मवाद का एक ऐसा विकृत रूप न जाने क्यों सामने आया? एक प्रवाह ही चल पड़ा और धर्म के गुरु भी ऐसा ही कहने लग गए।

धर्म कल्पवृक्ष है। दुनिया में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो धर्म से न मिले। धर्म से राज्य मिल जाता है, अच्छी पत्नी धर्म से मिलती है, बेटे और पोते धर्म से मिलते हैं। कविता की शक्ति और अच्छा गला भी धर्म से मिलता है। सारे गुण धर्म से मिलते हैं। यह एक ऐसा वृक्ष है जिसमें सब प्रकार के फल लगते हैं। एक प्रश्न है कि क्या सब-कुछ धर्म से ही मिलता है? यह प्रश्न समाधान चाहता है। क्या सब-कुछ अच्छे कर्मों से ही मिलता है? यदि मिलता है, तो मोक्ष से वह स्थान कहां रह जाता है जिसके लिए धन, राज्य, परिवार आदि को छोड़ने की बात प्राप्त होती है।

जब यह मान लिया गया कि सब-कुछ पुण्य से मिलता है, धर्म से मिलता है—तो इसका फलित यह हुआ कि हमारी समूची प्रवृत्ति पुण्य के अर्जन में लग गई। पुण्य का अर्जन प्रधान बन गया और पुरुषार्थ गौण हो गया। जबकि पुरुषार्थ से जो प्राप्त होता है वह प्रत्यक्ष है और पुण्य के द्वारा जो प्राप्त होता है वह प्रत्यक्ष नहीं है। दूसरी बात यह हुई कि अर्थ-व्यवस्था के प्रति मनुष्य का ध्यान ही नहीं गया। व्यवस्था को बदलने की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। यह कभी नहीं सोचा गया कि अपनी दुर्व्यवस्था को

मिटाने के लिए अर्थ-व्यवस्था को ठीक करना आवश्यक है। लगता है, भारत की गरीबी में बहुत बड़ा हाथ कर्मवाद, भाग्यवाद और पुण्यवाद की मान्यताओं का है। यदि भारत में कर्मवाद, भाग्यवाद और पुण्यवाद की धारणाएं प्रचलित नहीं होतीं तो आज हिंदुस्तान जितना गरीब है, उतना गरीब नहीं होता। यहां के आदमी में पुरुषार्थ की लौ ऐसी बुझी कि उसे फिर से प्रज्वलित करना कठिन हो गया। आदमी पग-पग पर सोचता है—'भाग्य में ऐसा ही लिखा है, क्या करें?' आदमी इतना जल्दी संतोष मान लेता है जो कि उसे नहीं मानना चाहिए। संतोष अच्छा भी है और बुरा भी है। जहां संतोष करना चाहिए वहां नहीं किया जाता और जहां नहीं करना चाहिए वहां किया जाता है। यही कठिनाइयों का मूल है। भाग्यवादी धारणाओं ने भारत का बहुत बड़ा अनर्थ किया है।

हमारी एक दार्शनिक भ्रांति है। वह आज भी चल रही है। वह भ्रांति यह है कि धर्म, पुण्य या अच्छे कर्म से सुख मिलता है; यह एक बात है और उनसे सुख के साधन मिलते हैं; यह दूसरी बात है। हमारी भ्रांति यह हुई कि हमने सुख को और सुख के साधन को एक मान लिया। यह सच है कि सुख की अनुभूति कर्म से होती है और दुख की अनुभूति भी कर्म से होती है। किंतु सुख के साधन अच्छे कर्म से मिलते हैं और दुख के साधन बुरे कर्म से मिलते हैं—इसे स्वीकार करने में कर्मवाद बाधक प्रतीत होता है। कर्मवाद की धारणा के आधार पर मैं अपनी बात स्पष्ट करूंगा।

कर्मवाद का एक सिद्धांत है कि किया हुआ कर्म फल देता है। बिना परिपाक या विपाक हुए कोई भी कर्म फल नहीं देता। विपाक के भी कुछ रूप हैं—क्षेत्र-विपाक, काल-विपाक, पुद्गल-विपाक और जीव-विपाक। कुछ कर्म ऐसे हैं, जिनका विपाक क्षेत्र से संबंधित है और कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका विपाक काल से संबंधित होता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका विपाक पुद्गल में होता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका विपाक जीव से संबंधित है। सुख-दुख होना, साता-असाता होना जीव-विपाकी कर्म कहलाता है। सुख का अनुभव भी जीव को होता है। उसका परिपाक जीव में होता है, पदार्थ में नहीं। परंतु हमने मान लिया कि पदार्थ का होना सुख है और पदार्थ का न होना दुख है। बहुत बड़ी भ्रांति पैदा हो गई। अनेक मनीषी आचार्यों ने बताया—पदार्थ के द्वारा जो होता है वह ऐकांतिक सुख या दुख नहीं होता। जेठ की दुपहरी है। गहरी प्यास लगी है। पानी का एक गिलास मिलता है तो सुख का अनुभव होता है। व्यक्ति को सुख का अनुभव हुआ पानी से। पानी सुख का अनुभव नहीं है। पानी सुख के अनुभव का एक साधन है। पानी एक पदार्थ है, जिसमें यह क्षमता है कि वह सुख का साधन बन सकता है, सुख का निमित्त या हेतु बन सकता है। किंतु पानी पीना सुख का अनुभव नहीं है, चेतना सुख का अनुभव करती है। चेतना को सुख होता है और पदार्थ उसका निमित्त बनता है। एक गिलास पानी पीया, फिर दूसरा गिलास पानी पीया, फिर तीसरा और चौथा गिलास पानी पीया। क्रमशः सुखानुभूति कम होती चली जाएगी और एक समय ऐसा भी आता है कि पानी पीने से सुख की अनुभूति बिलकुल नहीं होती। जैसे-जैसे उपयोगिता कम होती है, सुखानुभूति भी कम होती चली जाती है। संगीत सुनने से व्यक्ति को सुख मिलता है। किंतु एक व्यक्ति नींद में सोया हुआ है, वह संगीत को पसंद नहीं करेगा। एक आदमी खाने का शौकीन है, पर वह अगर रोगग्रस्त है तो अच्छा भोजन भी उसे अच्छा नहीं लगेगा।

पदार्थ में सुख देने की क्षमता नहीं है, पदार्थ सुख का निमित्त बन सकता है। यह भी जरूरी नहीं है कि पदार्थ सुख का निमित्त बनता ही है। वह बनता भी है और नहीं भी बनता। हमने पदार्थ को सब-कुछ मान लिया, यह बहुत बड़ी भ्रांति हो गई। एक धनपति ने कहा—'मेरा ड्राइवर जहां-कहीं मोटर खड़ी कर नींद ले लेता है। वह सुख की नींद सोता है और मुझे नींद लेने के लिए गोलियां खानी पड़ती हैं। फिर भी गहरी नींद नहीं आती। मुझे ड्राइवर की नींद से ईर्ष्या होती है, उसके निश्चिंत जीवन से ईर्ष्या होती है।' यह जानते हुए भी धन में एक प्रकार की मूर्च्छा है, एक प्रकार की तृष्णा काम करती है—जिसे वे छोड़ नहीं सकते। जो दुख का साधन है, वे उसे सुख का साधन मानकर चलते हैं। जब दुख के साधन को सुख मान लेते हैं तब आदमी सोचता है—धन कमाने से यह आदमी बड़ा हो गया, सुखी हो गया। यहां तक तो सच है कि वह धनपति बन गया—बड़ा बन गया, किंतु उसे सुखी मान लेना तो भ्रांति को पालना ही है।

धन के पीछे दौड़ने वाले बहुत-से लोगों में एक मूर्च्छा काम करती है। वे धन के लिए धन कमाते हैं, धन के लिए धन का अर्जन करते हैं। धन मात्र से वे अपना बड़प्पन प्रदर्शित करना चाहते हैं। इसके सिवाय धन में कोई सुख नहीं। यदि धन वाले ही सुखी हों और इसे कोई प्रमाणित कर सके तो शायद कर्मवाद के प्रश्न पर पुनर्विचार करने को

हम तैयार हो सकते हैं। आज तक कोई यह प्रमाणित नहीं कर सका कि धनपति ही सुखी होता है। इतना तो माना जा सकता है कि धनपति सुविधापूर्ण जीवन जी सकता है। धन से सुविधाएं प्राप्त हो सकती हैं। धन से जो वस्तु चाहे, वह मिल सकती है। पर, वस्तु का मिलना सुख का मिलना नहीं है। यदि वस्तु का मिलना सुख का मिलना मान लें तो भ्रांति छा जाएगी। वस्तु का मिलना कुछ और है, सुख का मिलना कुछ और है। हम देखते हैं कि वस्तुओं का संग्रह करने वाले दुश्चिंताओं में जीते हैं।

हम सबसे पहले यह समझें कि वस्तु का होना एक बात है और सुख का होना दूसरी बात है। दोनों की भिन्न-भिन्न दिशाएं हैं। वस्तु के न होने पर भी आदमी सुखी हो सकता है और बहुत-सारी वस्तुओं की सुगमता होने पर भी आदमी सुखी नहीं हो सकता। यह समझ में आते ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थ को कर्म या धर्म के साथ जोड़ना आवश्यक नहीं है। धर्म से जो प्राप्त होता है, वह हमारी आंतरिक अनुभूति है। धर्म से हमारा आंतरिक व्यक्तित्व बनता है और अधर्म से वह बिगड़ता है। कर्म की व्यवस्था हमारे आंतरिक व्यक्तित्व के निर्माण में या बिगाड़ने में है, न कि पदार्थ को जुटाने में। जब ठंडी हवा चलती है तब सुख का अनुभव होता है। ठंडी हवा किस व्यक्ति के पुण्य-कर्म से चली, किसके भाग्य से चली? वर्षा होती है, वह किसके कर्म से होती है? एक आदमी कश्मीर में जन्म लेता है और गर्मी का मौसम सुखपूर्वक बिता देता है। एक आदमी राजस्थान में जन्म लेता है और गर्मी के दिनों में कष्ट का अनुभव करता है। तो क्या हम मान लें कि कश्मीर में जन्म लेने वाले सारे भाग्यशाली हैं और राजस्थान में जन्म लेने वाले सारे लोग भाग्यहीन हैं? प्रकृति से होने वाले सारे परिवर्तनों को, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर घटित होने वाली घटनाओं को यदि हम कर्म के साथ जोड़ देते हैं, उन्हें कर्म का फल मान लेते हैं तो वहां बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। हम उन्हें निमित्त मान सकते हैं, हेतु मान सकते हैं, किंतु कर्म का परिणाम नहीं मान सकते। एक व्यक्ति को धन मिल गया तो क्या हम यह मानें कि इसने अच्छा कर्म किया था? ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जो सदाचार, नैतिकता और पवित्रता के साथ धन का अर्जन करें और बड़े धनपति बन जाएं। यह संभव नहीं लगता। नदी में बाढ़ आएगी तो गंदा पानी आएगा ही। ऐसा हो नहीं सकता कि बाढ़ आए और सारा-का-सारा निर्मल पानी ही आए। अच्छे साधनों से आदमी की जीविका चल सके, उतना धन ही कमाया जा सकता है, बहुत बड़ा धनी नहीं बन सकता। धन कमाने के अनेक साधन हैं। साधनों से धन मिलता है। हम यह मानते चले जाएं कि सारा धन पुण्य के द्वारा ही मिलता है—यह सही नहीं है। अर्थ-व्यवस्था की खामियों को कर्म के साथ जोड़ दिया गया और उस भ्रांति ने आदमी को दिग्मूढ़ बना दिया। आज भी वह दिग्मूढ़ता कर्मवाद और भाग्यवाद के नाम पर हिंदुस्तान को सता रही है। किसी का ध्यान उस ओर नहीं जाता।

कर्मवाद को पदार्थ के साथ न जोड़ें। इस बात को और गहराई से समझें कि यदि धन का संबंध कर्मवाद से होता और यदि कर्म के द्वारा ही यह सब-कुछ प्राप्त होता, यदि कर्म का ही परिणाम होता तो अध्यात्म के आचार्य धन को छोड़ने या राज्य को त्यागने की बात क्यों कहते? वे संपदाओं को न भोगने की बात क्यों कहते?

भगवान महावीर ने अपरिग्रह पर जितना बल दिया, उतना और किसी ने नहीं दिया। उन्होंने कहा, 'परिग्रह एक संज्ञा है।' पदार्थ दुनिया में होता है। दुनिया का धन दुनिया में होता है। उससे हमारा न कुछ बनता है और न कुछ बिगड़ता है। कुछ भी नहीं होता। जब व्यक्ति के साथ पदार्थ का संबंध जुड़ता है तब परिग्रह की संज्ञा उत्पन्न हो जाती है। महावीर से पूछा गया—'भंते! परिग्रह की संज्ञा क्यों उत्पन्न होती है?' महावीर ने कहा—'जब मोहनीय कर्म का उदय होता है, तब परिग्रह की संज्ञा बनती है। परिग्रह के प्रति आकर्षण होना, परिग्रह के प्रति आसक्ति होना और परिग्रह के साथ ममकार का जुड़ जाना—मोहनीय कर्म का, पाप कर्म का उदय होना है। पुण्य का उदय नहीं होता।' जो धर्म के क्षेत्र में काम करने वाले लोग हैं, वे अर्थ के क्षेत्र में सीधा हस्तक्षेप नहीं करते। अर्थ के विषय में चिंतन करना समाज के चिंतकों का, समाज के कर्णधारों का, राजनीति के संचालकों का काम है। फिर भी अध्यात्म के लोगों ने जो मूलभूत तथ्य दिए, वे बहुत ही महत्त्व के हैं।

हमने विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था की बात सुनी है। यह बात महात्मा गांधी के बाद बहुत उजागर हो गई। विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य है कि समाज के सब लोगों के पास संपदा पहुंचे। कहीं एक जगह संपदा जमा न हो। समाज के सभी लोग संपदा को बांटकर उपभोग करें। विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था का नाम भी समाजवाद है और केंद्रित अर्थ-व्यवस्था का नाम भी समाजवाद है। किंतु दोनों में अंतर है। जहां अर्थ-व्यवस्था केंद्रित होती है वहां शक्ति का प्रयोग

अनिवार्य हो जाता है। शक्ति के प्रयोग के बिना कोई व्यक्ति अपनी संपदा को छोड़ना नहीं चाहता। कुछ लोग छोड़ सकते हैं, जिनके मन में धर्म की चेतना जागृत हो। जिनके मन में धर्म की चेतना, अपरिग्रह की चेतना जागृत नहीं है—वे व्यक्ति अपना प्रभुत्व छोड़ना कभी पसंद नहीं करते।

केंद्रित अर्थ-व्यवस्था में शक्ति का प्रयोग अनिवार्य है और हिंसा का प्रयोग भी अनिवार्य है। क्योंकि जहां कार्य बल-प्रयोग के द्वारा किया जाता है, वहां हिंसा को कभी टाला नहीं जा सकता, छीना-झपटी को भी कभी टाला नहीं जा सकता। उसमें स्पर्धा भी अनिवार्य होती है। नैतिकता की बात गौण हो जाती है। केंद्रित अर्थ-व्यवस्था में नैतिकता का मूल वह नहीं रहता जो विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था में हो सकता है। जो लोग अहिंसा और धर्म की दृष्टि से सोचते हैं वे केंद्रित अर्थ-व्यवस्था को पसंद नहीं करते।

केंद्रित अर्थ-व्यवस्था में आदमी सुखी जीवन नहीं बिता सकता। क्योंकि आदमी को केवल रोटी ही नहीं चाहिए, कुछ और भी चाहिए। विचारों की स्वतंत्रता भी चाहिए, कर्म की स्वतंत्रता भी चाहिए। किंतु जहां केंद्रित सत्ता और केंद्रित अर्थ-व्यवस्था होगी वहां वैचारिक स्वतंत्रता नहीं हो सकती और कर्म की स्वतंत्रता भी नहीं हो सकती। उस व्यवस्था में आदमी समाज के यंत्र का एक पुर्जा बन जाता है और यांत्रिक जीवन जीता है। उस स्थिति में रोटी की बात गौण हो जाती है, दूसरी बातें सताने लग जाती हैं।

मनु से पूछा गया—'सुख क्या है? दुख क्या है?' उत्तर दिया—'सर्वं परवशं दुखं, सर्वं आत्मवशं सुखं'—परवशता दुख है और स्ववशता सुख है। परतंत्रता दुख है और स्वतंत्रता सुख है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो रोटी के लिए स्वतंत्रता को ठुकरा देते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो किसी सूरत में स्वतंत्रता की बलि देना पसंद नहीं करते। इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसे लोग भी हुए हैं, जिन्होंने स्वतंत्रता के लिए सैकड़ों कठिनाइयां झेलीं। उन्होंने किसी भी मूल्य पर स्वतंत्रता को छोड़ना नहीं चाहा।

सुखी जीवन जीना, यह विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था में ही हो सकता है। केंद्रित अर्थ-व्यवस्था में सुख का जीवन नहीं जीया जा सकता, केवल उसके साधनों को प्राप्त किया जा सकता है। राजनीति का क्षेत्र पदार्थ उपलब्ध करा सकता है, राज्य-शासन पदार्थ की प्राप्ति करा सकता है। सुख देना उसके हाथ की बात नहीं है। सुख के साधन और दुख के साधन उपलब्ध कराने में वह सक्षम है। जबकि सुखी-दुखी बनाना उसकी क्षमता से परे है। राज्य-शासन सुख के साधन जुटा सकता है, किंतु सुख का साधन देने पर भी मानसिक वृत्तियां यदि सुख को भोगने में सक्षम नहीं हैं तो आदमी सुखी नहीं बन सकता। हमारी यह धारणा स्पष्ट होनी चाहिए कि सुख की अनुभूति और सुख के साधन एक नहीं हैं—दो हैं। दुख की अनुभूति और दुख के साधन एक नहीं—दो हैं। जब यह धारणा स्पष्ट हो जाती है तब अनेक समस्याएं अपने आप समाहित हो जाती हैं।

विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था में पहली बात यह है कि संपदा व्यक्ति-व्यक्ति के पास पहुंचे। वह कहीं केंद्रित न हो। समूचे समाज के पास संपदा पहुंचे। किंतु वह शक्ति के प्रयोग के द्वारा, बल-प्रयोग के द्वारा या हिंसा के द्वारा नहीं—एक सहज स्वीकृत व्यवस्था के द्वारा पहुंचे। उस व्यवस्था की पृष्ठभूमि में अहिंसा का दर्शन होता है। अहिंसा के दर्शन का सिद्धांत है कि सुख और सुख के साधन दो हैं। दुख और दुख के साधन दो हैं। राजनीति का सिद्धांत इसे मान्य नहीं करता। राजनीति में जो सुख का साधन है—वही सुख है और जो दुख का साधन है—वही दुख है। जब हम दर्शन के स्तर से विचार करते हैं तब यह भेद-रेखा खिंच जाती है कि सुख का साधन अलग होता है और सुख अलग होता है। दुख का साधन अलग होता है और दुख अलग होता है।

भगवान महावीर ने एक आचार-संहिता दी और उसमें लाखों व्यक्ति दीक्षित हुए। उस आचार-संहिता में दो सूत्र थे। पहला सूत्र था—अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह। दूसरा सूत्र था—महा आरंभ और महा परिग्रह। महा आरंभ और महा परिग्रह को आज की भाषा में केंद्रित अर्थ-व्यवस्था और केंद्रित सत्ता कह सकते हैं। अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह को आज की भाषा में विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था और विकेंद्रित सत्ता कह सकते हैं। जहां परिग्रह अल्प है, वहां हिंसा भी अल्प है। जहां परिग्रह अधिक है, वहां हिंसा भी अधिक है। हिंसा के लिए परिग्रह नहीं होता, किंतु परिग्रह के लिए हिंसा होती है। हिंसा परिग्रह का निमित्त है। जिस व्यक्ति के मन में परिग्रह की कोई भावना नहीं है, वह व्यक्ति हिंसा नहीं कर सकता। जिसके मन में परिग्रह की भावना है, हिंसा वहीं से प्रारंभ होती है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। इसे हमें समझना है।

सबसे पहला परिग्रह है—हमारा शरीर। हिंसा होती है शरीर की सुरक्षा के लिए। एक संस्कृत कवि ने लिखा

है—'सर्वारम्भाः तन्दुलप्रस्थमूलाः'—जितनी भी प्रवृत्तियां हैं, वे मात्र एक सेर चावल को प्राप्त करने के लिए हैं। सारी हिंसा पेट की आग को बुझाने के लिए है। परिग्रह में दूसरा स्थान आता है—परिवार और पदार्थ का। परिवार के पालन-पोषण के लिए पदार्थों का संग्रहण किया जाता है। एक मानसिक परिग्रह भी होता है—बड़प्पन के लिए, प्रतिष्ठा के लिए।

प्राचीन भारतीय अर्थ-व्यवस्था के चिंतन में एक महत्त्वपूर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है—इच्छा-परिमाण। आज राजनीति के क्षेत्र में चाहे केंद्रित अर्थ-व्यवस्था हो या विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था हो, वहां व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा की बात कही जाती है। महावीर की आचार-संहिता में इच्छा-परिमाण शब्द है। दोनों में अंतर केवल इतना ही है कि आज की केंद्रित अर्थ-व्यवस्था में वह शक्ति के प्रयोग के द्वारा आता है। विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था में शक्ति का प्रयोग उतना नहीं होता, किंतु व्यक्ति की इच्छा से या समाज के कल्याण की दृष्टि से वह कार्य किया जाता है। जबकि इच्छा-परिमाण विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से किया जाता है।

अल्प आरंभ, अल्प परिग्रह और इच्छा-परिमाण—ये तीन शब्द ऐसे हैं जो विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था, विकेंद्रित सत्ता और व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा, इच्छाओं की सीमा—जैसे सिद्धांत हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

अब प्रश्न है कि पुण्य को रोकने की बात क्यों? और अल्प आरंभ व अल्प परिग्रह का सिद्धांत क्यों प्रतिपादित किया गया?

भारतीय कुछ अधिक ही अकर्मण्य हैं और इसमें उनकी भाग्यवादी धारणा का बहुत बड़ा हाथ है। आदमी ने पुरुषार्थ को छोड़ दिया और वह कर्मवादी, भाग्यवादी धारणाओं को लेकर सोया पड़ा है। वह यह सोच भी नहीं पाता कि पुरुषार्थ के बल पर आदमी अनेक समस्याओं से उबर सकता है, अपनी आर्थिक दशा को बदलकर संपदा बढ़ा सकता है, गरीबी मिटा सकता है और समाज में समीकरण ला सकता है। यह लगता है कि भारत का आदमी यदि भाग्यवादी धारणा का पोषक नहीं होता तो कई सुफल घटित हो जाते। आज वह अनेक कठिनाइयां झेल रहा है, फिर भी कर्मवादी धारणा को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है।

वर्तमान की परिस्थितियों के संदर्भ में हम कर्मवाद को समझें और गहराई में अवलोकन करें। विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था और कर्मवाद का एक मर्म है कि हम बहुत परिग्रह न करें—इस सिद्धांत से सामाजिक विषमता का समाधान मिलता है। विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था अहिंसा के भी अति निकट है। अध्यात्म के सामाजिक रूप को लोकतंत्र और विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था के माध्यम से चरितार्थ किया जा सकता है। अध्यात्म या धर्म का यह व्यावहारिक प्रतिफलन हो सकता है।

हम धर्म को, पुण्य को और पुण्य के कार्य को ठीक से समझें। पुण्य की क्या अनुभूति होती है और धर्म की क्या अनुभूति होती है? धर्म का हमारे जीवन में क्या प्रतिफलन है? इन सारे प्रश्नों पर हम नए सिरे से सोचें तो धर्म की सारी गुत्थियां सुलझाई जा सकती हैं। पुण्य और कर्म की धारणा को भी एक स्वस्थ रूप मिल सकता है और वर्तमान की एक बड़ी समस्या—सामाजिक विषमता—को भी समाधान मिल सकता है। आवश्यकता इतनी ही है कि हम मूल को पकड़ें। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

यदि हम माया से पुरस्कार पा सकें, द्वैत की प्रवृत्ति को दबा सकें, उस अंदर को नष्ट कर सकें, उस न्यूनता को भर सकें और बाधाओं को शिथिल कर सकें, तो देश, काल और परिवर्तन विशुद्ध सत्ता में वापस पहुंच जाते हैं। जब तक मूलभूत माया की कमी विद्यमान रहती है, पदार्थ भी एक दूषण के रूप में देश, काल एवं कारणरूप जगत् में वर्तमान रहेंगे। माया को मानव ने नहीं बनाया। यह हमारी बुद्धि से पूर्व विद्यमान थी और उससे स्वतंत्र भी है। यथार्थ में यह वस्तुओं की, एवं बुद्धियों की भी, उत्पादक है एवं सारे संसार में अत्यधिक क्षमता रखती है। इसे कभी-कभी प्रकृति भी कहा जाता है।

भारतीय विचारधारा की सामान्य विशेषताएं

डॉ. राधाकृष्णन ❑

हम संसार की व्याख्या कैसे करें? विविध प्रकार के इंद्रियानुभव देश, काल और कारण से बद्ध हमारे सामने हैं। यदि आत्मा एक है, व्यापक है, अटल निर्विकार एवं निर्विकल्प है, तो हमें जगत् में परस्पर-विरोधी स्वरूपों का विस्तृत समूह भी मिलता है। हम इसे केवल अनात्म और प्रमाता के अतिरिक्त प्रमेय पदार्थों का समूह ही कह सकते हैं। किसी भी अवस्था में यह यथार्थ नहीं है। जगत् की मुख्य-मुख्य श्रेणियां—काल, देश और कारण—सब आत्मविरोधी हैं। ये अपने निर्माणकर्ता अवयवों के ऊपर आश्रित अन्योन्याश्रित परिभाषाएं हैं। इनकी यथार्थ सत्ता नहीं है। किंतु ये असत् भी नहीं हैं। जगत् विद्यमान है, हम इसके अंदर और इसके द्वारा सब काम करते हैं। हम इस जगत् के अस्तित्व के कारण और प्रयोजन, अर्थात् 'कैसे' और 'क्यों', को नहीं जान सकते। 'माया' शब्द से तात्पर्य जगत् की इस अज्ञेयता से ही है।

पिछले अंक से जारी
—दूसरी किस्त—

यह प्रश्न कि परम-आत्मा का इंद्रियानुभूति के निरंतर प्रवाह के साथ क्या संबंध है और यह क्यों और कैसे होता है तथा यह प्रश्न कि दो वस्तुएं सत् हैं, इन सबका तात्पर्य है कि हम यह धारणा कर लेते हैं कि हर विषय में क्यों और कैसे का प्रश्न उठता है। इस मत के आधार पर यह कहना कि अनंत ने सांत का रूप धारण कर लिया है अथवा अनंत ब्रह्म अपने को मूर्तरूप में प्रकट करता है, सर्वथा बेकार की बात है। अनंत की अभिव्यक्ति कभी सांत द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि जिस क्षण भी अनंत सांत के द्वारा अभिव्यक्ति में प्रवृत्त होगा, स्वयं उसकी अनंतता नष्ट हो जाएगी और वह सांत हो जाएगा। यह कहना कि इंद्रियातीत परम सत्ता में ह्रास और पतन होने के कारण वह इंद्रियानुभूति का विषय हो जाती है, अपने-आप में उसके परमत्व का विरोधी हो जाएगा। पूर्ण सत्ता में ह्रास नहीं हो सकता। पूर्ण प्रकाश के अंदर अंधकार का निवास नहीं हो सकता। हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि परब्रह्म, जो परिवर्तन से परे है, परिवर्तित होकर सांत (मूर्तरूप) हो सकता है। परिवर्तन का तात्पर्य है अभिलाषा अथवा किसी वस्तु का अभाव अनुभव करना और यह पूर्णता के अभाव का द्योतक है। परब्रह्म कभी इंद्रियज्ञान का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि जो जाना जाता है वह सांत और सापेक्ष होता है। हमारा सांत मन काल, देश और कारण की परिधि से परे नहीं जा सकता और न हम इनकी व्याख्या ही कर सकते हैं, क्योंकि व्याख्या करने के प्रयत्न का ही तात्पर्य होगा कि हम इन्हें अंगीकार कर लेते हैं। विचार के द्वारा, जो कि स्वयं सापेक्ष जगत् का एक भाग है, हम परम ब्रह्म को नहीं जान सकते। हमारा सापेक्ष ज्ञान जागरित अवस्था का एक प्रकार का स्वप्न-मात्र है।

विज्ञान और तर्क इसके अंश भी हैं और इसके कार्य भी। अध्यात्मविद्या की सफलता के ऊपर न तो खेद प्रकट करना चाहिए और न ही उसका उपहास करना चाहिए, न प्रशंसा ही करनी चाहिए और न दोष ही देना चाहिए; बल्कि उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। बौद्धिक क्षमता से उत्पन्न स्वाभाविक नम्रता के साथ प्लेटो अथवा नागार्जुन, कांट अथवा शंकर घोषणा करते हैं कि हमारी बुद्धि केवल सापेक्ष का विचार करती है और निरपेक्ष परब्रह्म इसकी पहुंच से बाहर है।

यद्यपि परम सत्ता का ज्ञान तर्कशास्त्र की विधि से नहीं हो सकता, तो भी वे सब, जो सत्य को जानने के लिए प्रयत्नशील हैं, उस सत्ता का अनुभव करके जान जाते हैं कि उसी सत्ता के अंदर हम सब जीवन बिताते हैं व समस्त कर्म करते हैं और उसी सत्ता से हम सत्ता धारण किए हुए हैं। केवल इसके द्वारा अन्य सब-कुछ जाना जा सकता है। यह समस्त ज्ञान का नित्य साक्षी-स्वरूप है। अद्वैतवादी तर्क करता है कि उसका सिद्धांत सत्य घटनाओं के तर्क पर आश्रित है। आत्मा अत्यंत आभ्यंतर और गहनतम सत्ता है जिसे सब अनुभव करते हैं, क्योंकि यह ज्ञात एवं अज्ञात पदार्थों की भी आत्मा है और उसे जानने वाला उसके स्वयं के अतिरिक्त और कोई नहीं है। यह सत्य है और नित्य है और इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इंद्रियानुभूतिजन्य ज्ञान के श्रेणी-विभाजन के विषय में अद्वैतवादी का कहना है कि वे वह हैं, किंतु वही उनका अंत भी है। हम क्यों का जवाब जानते भी नहीं और जान सकते भी नहीं। यह सब एक प्रकार की प्रतिकूलता है, किंतु है वास्तविक। अद्वैतवाद की उक्त दार्शनिक स्थिति गौड़पाद और शंकर ने अंगीकार की है।

ऐसे भी वेदांती हैं जो इस मत से संतुष्ट नहीं हैं और अनुभव करते हैं कि अपनी उलझन को माया के नाम से ढकना उचित नहीं है। वे उस पूर्ण सत्ता—जो सब प्रकार के निषेधात्मक अभाव से रहित है, स्वयं निर्विकार एवं यथार्थ है और जिसका अनुभव ज्ञान की गहराइयों में होता है—तथा इस परिवर्तनशील, एवं सृज्यमान जगत् के बीच के संबंध की अधिक निश्चयात्मक व्याख्या करते हैं। उस एकमात्र सत्ता की पूर्णता की रक्षा के लिए हमें बाध्य होकर कहना पड़ता है कि यह सृष्टि बाहर से किसी अवयव के जुड़ने से निर्मित नहीं हुई है, क्योंकि इसके बाहर अथवा इसके अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं। यह केवल एक ह्रास के कारण ही संभव है। इस सृष्टि-रूपी परिवर्तन के लिए प्लेटो के असत् अथवा अरस्तू की प्रकृति जैसे किसी अभावात्मक तत्त्व की कल्पना कर ली जाती है। इस अभावात्मक तत्त्व की क्रिया के द्वारा क्रियाशील अनेक के मध्य में निर्विकार सत्ता का विस्तार हो गया आभासित होता है, जैसे सूर्य के अंदर किरणें आती हैं किंतु सूर्य उन्हें धारण नहीं करता। माया नाम उसी अभावात्मक तत्त्व का है जो सर्वव्यापक सत्ता को उच्छृंखल कर देता है, जिससे अनंत उत्तेजना और निरंतर रहने वाली अशांति का जन्म होता है। विश्व का प्रवाह उसी निर्विकार की प्रतीयमान अवनति के कारण संभव होता है। सृष्टि में जो-कुछ भावात्मक गुण है वह सब उसी यथार्थ सत्ता के कारण है। जगत् के पदार्थ अपनी वास्तविक सत्ता को पुनः प्राप्त करने, अपने अंदर के अभाव को पूरा करने एवं अपने व्यक्तित्व को उतार फेंकने के लिए सर्वदा संघर्ष करते हैं, किंतु उनके इस प्रयत्न में उनका आंतरिक अभाव, अर्थात् निषेधात्मक माया बराबर बाधा उपस्थित करती है जो कि उस मध्यवर्तीकाल से निर्मित है, जो वह है और जो उन्हें होना चाहिए। यदि हम माया से छुटकारा पा सकें, द्वैत की प्रवृत्ति को दबा सकें, उस अंदर को नष्ट कर सकें, उस न्यूनता को भर सकें और बाधाओं को शिथिल कर सकें, तो देश, काल और परिवर्तन विशुद्ध सत्ता में वापस पहुंच जाते हैं। जब तक मूलभूत माया की कमी विद्यमान रहती है, पदार्थ भी एक दूषण के रूप में देश, काल एवं कारणरूप जगत् में वर्तमान रहेंगे। माया को मानव ने नहीं बनाया। यह हमारी बुद्धि से पूर्व विद्यमान थी और उससे स्वतंत्र भी है। यथार्थ में यह वस्तुओं की, एवं बुद्धियों की भी, उत्पादक है एवं सारे संसार में अत्यधिक क्षमता रखती है। इसे कभी-कभी प्रकृति भी कहा जाता है। उत्पत्ति और विनाश का बारी-बारी से होना और निरंतर दुहराए जाने वाले विश्व के विकासचक्र इस मौलिक न्यूनता को दर्शाते हैं जिसके कारण संसार का अस्तित्व है। सृष्टि की रचना सत्ता का अवरोध-मात्र है। माया यथार्थ सत्ता की प्रतिच्छाया-मात्र है। संसार की गति निर्विकार सत्ता का रूपांतर न होकर एक प्रकार से उसका विपर्यास है। तो भी मायामय जगत् विशुद्ध सत्ता से पृथक् विद्यमान नहीं रह सकता। अगर निर्विकारिता न हो तो कोई गति भी नहीं हो सकती, क्योंकि गति निर्विकार की केवल एक प्रकार की अवनति ही है। अचल सत्ता ही व्यापक गति का सत्य है।

जिस प्रकार सृष्टि सत्ता के ह्रास का नाम है, इसी प्रकार अविद्या अथवा अज्ञान विद्या अथवा ज्ञान की अवनति का नाम है। सत्यज्ञान के लिए एवं यथार्थता का

साक्षात्कार करने के लिए हमें अविद्या एवं उससे उत्पन्न आवरणों से भी छुटकारा पाना होगा, और जैसे ही हम उनके अंदर यथार्थता को बलपूर्वक प्रविष्ट करेंगे, सभी स्वतः ही छिन्न-भिन्न होकर टूट जाएंगे। विचार की मंदता के लिए यह कोई बहाना नहीं है। इस मत के अनुसार दर्शनशास्त्र तर्क के रूप में हमें प्रेरणा प्रदान करता है कि हम बौद्धिक धारणाओं का उपयोग करना छोड़ दें, क्योंकि वे हमारी क्रियात्मक आवश्यकताओं की सापेक्ष हैं और इस भौतिक सृष्टि से संबद्ध हैं। दर्शनशास्त्र हमें बतलाता है कि जब तक हम बुद्धि के अधीन रहेंगे और इस अनेकत्वपूर्ण जगत् में खोए रहेंगे, तब तक उस विशुद्ध सत्ता के समीप वापस पहुंचने के लिए हमारी सारी खोज असफल रहेगी। यदि हम कारण का पता लगाने के लिए पूछें कि यह अविद्या अथवा माया क्यों है, जो हमें विद्या (ज्ञान) एवं विशुद्ध सत्ता से दूर घसीटती है, तो इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सकता। इस स्थान पर दर्शनशास्त्र के पास तर्क के रूप में यह निषेधात्मक कार्य रह जाता है कि वह बौद्धिक वर्ग की अपर्याप्तता को प्रकट में स्वीकार करके निर्देश करे कि किस प्रकार संसार के पदार्थ मन की वृत्ति के ऊपर निर्भर करते हैं, जो उनका विचार करता है, किंतु जिसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। यह हमें उस निर्विकार सत्ता के विषय में कुछ निश्चित ज्ञान नहीं दे सकता जिसके विषय में कहा जाता है कि उसकी पृथक् सत्ता है। जो-कुछ संसार में हो रहा है उसके माध्यम से वह उस माया के विषय में कुछ निश्चित ज्ञान नहीं दे सकता है जिसके कारण संसार की उत्पत्ति हुई। यह प्रत्यक्ष रूप से उस विशुद्ध यथार्थ सत्ता की प्राप्ति में हमें सहायता नहीं दे सकता। इसके विपरीत यह हमें बतलाता है कि यथार्थ सत्ता का सही-सही माप करने के लिए हमें मिथ्या कथन करना पड़ेगा। संभवतः एक बार निश्चित ज्ञान प्राप्त हो जाने से सत्य के हित में इसका उपयोग हो सकेगा। हम इस पर विचार सकते हैं, तर्क द्वारा इसकी रक्षा भी कर सकते हैं और इसका प्रचार करने में सहायक भी बन सकते हैं। विशुद्धाद्वैत के समर्थक अमूर्त बुद्धि से भी ऊंची एक शक्ति को मानते हैं, जिससे हम यथार्थता की प्रेरणा को अनुभव करने के योग्य होते हैं। हमें व्यापक चेतना में अपने-आपको विलीन करना होगा और उसी के समान व्यापक होने के योग्य बनना होगा। उस समय हमें उस सत्ता के विषय में सोचने की अपेक्षा अपने को उसके समान बनाने का प्रयत्न करना है, उसके ज्ञान के भाव की अपेक्षा वैसा बन जाना है। इस प्रकार का नितांत अद्वैतवाद तर्क, अंतर्दृष्टि, यथार्थ सत्ता और व्यवस्थित जगत् के भेद के साथ हमें कतिपय उपनिषदों में, नागार्जुन और शंकर के अतिदार्शनिक मनोभावों में, श्रीहर्ष और अन्यान्य अद्वैत वेदांतियों में मिलता है और इसकी प्रतिध्वनि परमेनिड्स और प्लेटो, स्पिनोजा एवं प्लॉटिनस, ब्रैडले और बर्गसां में भी सुनाई पड़ती है—पश्चिम के रहस्यवादियों में तो मिलती ही है।[1]

अंतर्दृष्टि के विचार में यथार्थ सत्ता विशुद्ध एवं सहज अथवा जैसी भी हो, बुद्धि के विचार में तो यह एक न्यूनाधिक परम अमूर्तरूप सत्ता है। जिस समय प्रत्येक घटना व आकृति का विलोप हो जाता है, तब भी इसका निरंतर अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है। जबकि समस्त जगत् अमूर्तरूप में परिणत हो जाता है तब भी यह सत्ता अवशिष्ट रहती है। यदि मनुष्य समुद्र, पृथ्वी, सूर्य और नक्षत्रों, देश और काल, मनुष्य एवं ईश्वर आदि के विषय में विचार करना बंद कर दे तो यह मानसिक विचार के ऊपर एक जबरदस्त प्रतिबंध होगा, किंतु जब समस्त विश्व के अभाव के चिंतन का प्रयत्न किया जाता है और सब प्रकार की सत्ता को भी मिथ्या समझ लिया जाता है तब मनुष्य के पास और क्या-कुछ बाकी बचता है? विचार के लिए, जो सीमित और सापेक्ष है, यह एक अत्यंत निराशा का विषय है कि जब प्रत्येक सत्तावान पदार्थ का लोप हो जाता है तब उसके लिए कोई विषय शेष नहीं रह जाता। धारणात्मक मन के लिए अंतर्दृष्टि द्वारा मुख्य साध्य विषय 'केवल ब्रह्म ही सत् है' का तात्पर्य स्पष्ट है, अर्थात् उनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। विचार, जैसा कि हेगल ने कहा है, केवल सविकल्प सत्ताओं एवं ठोस पदार्थों के संबंध में ही कार्य कर सकता है। इसके लिए प्रत्येक स्वीकृति से निषेध का संकेत होता है और प्रत्येक निषेध से स्वीकृति का। हरएक ठोस वस्तु रचित है जिसमें सत् और असत्, वास्तविक और अभावात्मक एक साथ जुड़े हुए हैं। इस प्रकार वे विचारक, जिन्हें अंतर्दृष्टि द्वारा सिद्ध सत्ता से संतोष नहीं होता और जो ऐसे संश्लेषण की अभिलाषा रखते हैं जिसकी उपलब्धि विचार द्वारा हो सके—क्योंकि इसकी स्वाभाविक प्रेरणा ठोस पदार्थ के प्रति होती है—विषयाश्रित प्रत्ययवाद की ओर आकृष्ट होते हैं। ऐसे अखंड प्रत्ययवादी विचारक विशुद्ध सत्ता एवं प्रतीयमान सृष्टि के दोनों प्रत्ययों को एक साथ जोड़कर ईश्वर के अस्तित्व-रूपी एकत्र संक्षेपण को उपस्थित करते हैं। घोर अद्वैतवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि-रचना एक विशुद्ध यथार्थ सत्ता के ऊपर निर्भर

करती है, यद्यपि इसके विपरीत कि सृष्टि के कारण उसकी कर्ता-रूपी यथार्थ सत्ता की सिद्धि होती है।

अब हमारे सामने एक प्रकार का विश्लेषित परम ब्रह्म है—अर्थात्, ऐसा ईश्वर, जिसके अपने अंदर संभावित सृष्टि की रूपरेखा है और जो अपने स्वरूप में कुल सत्ता के सारतत्त्व एवं सृष्टि के भी तत्त्व को संयुक्त रूप में एवं एकता और अनेकता को अनंतता और सांतता को भी सम्मिलित रूप में संजोए हुए है। विशुद्ध सत्ता जब प्रमाता का रूप धारण कर लेती है, उसी समय अपने को विषय-रूप में भी परिणत करती हुई विषय को अपने अंदर धारण कर लेती है। प्रमेय, विपक्षता और संकलन, हेगल की परिभाषा के अनुसार, निरंतर चक्रगति से चलते रहते हैं। हेगल ने ठीक ही कहा है कि ठोस जगत् की अवस्थाएं प्रमाता भी हैं और प्रमेय भी हैं। ये दोनों प्रतिपक्ष प्रत्येक ठोस में एकत्र और सम्मिश्रित हैं। महान ईश्वर स्वयं अपने अंदर दो परस्पर विपरीत स्वरूपों को धारण करता है जहां कि एक दूसरे के द्वारा नहीं, किंतु वस्तुतः दूसरा (विभिन्न) ही है। जब इस प्रकार का सक्रिय ईश्वर सदा के लिए परिवर्तनशील चक्र में बंधा हुआ वर्णित किया जाता है तब सत्ता की सब श्रेणियां दैवी पूर्णता से लेकर निकृष्ट धूलिपर्यंत स्वतः ही सामने आ जाती हैं। ईश्वर की स्वीकृति के साथ-साथ सत्ता और अभाव के मध्य की सब श्रेणियां भी स्वतः स्वीकृति में आ जाती हैं। हमारे सामने अब एक विचारमय विश्व है, जिसकी रचना विचारशक्ति से हुई, जो विचारशृंखला के अनुकूल है और विचारशक्ति द्वारा ही स्थित है, जिसकी अवस्थाएं ज्ञाता और ज्ञेय हैं। देश, काल और कारण प्रमातृनिष्ठ आकृतियां नहीं हैं अपितु विचार-बुद्धि के व्यापक तत्त्व हैं। यदि विशुद्ध अद्वैत के आधार पर हम अभेद और भेद के परस्पर संबंध को नहीं समझ सकते तो यहां हम उससे उत्तम आधार पर हैं। एक ही तादात्म्यरूप संसार भिन्न-भिन्न टुकड़ों में बंटा हुआ दिखाई पड़ता है। इनमें से कोई भी दूसरे से जुदा नहीं है। ईश्वर आंतरिक भित्ति है, जो तादात्म्य का आधार है। जगत् उसकी बाह्य अभिव्यक्ति है, जिसे आत्मचेतना का बाह्यीकरण नाम दिया जा सकता है।

विशुद्ध अद्वैत के मत में इस प्रकार का ईश्वर परम ब्रह्म का ह्रासरूप है, इसे केवल सूक्ष्मतम भेद से उस परम ब्रह्म से पृथक् समझा जाता है। यह भेद अविद्याकृत है जो विद्या से अत्यंत सूक्ष्म, चिंतन-योग्य दूरी के कारण पृथक् है। दूसरे शब्दों में, 'यह ईश्वर हमारी उच्चतम बुद्धि का उच्चतम प्रस्तुत पदार्थ है।' दुख का विषय यह है कि अंततोगत्वा यह है एक पदार्थ ही और हमारी बुद्धि भी, चाहे जितना ही विद्या के समीप पहुंचती हो, विद्या (ज्ञान)-रूप नहीं है। यह ईश्वर अपने में अधिक-से-अधिक सद्भाव और कम-से-कम त्रुटि धारण किए हुए है, जो है त्रुटि (न्यूनता) ही। माया का पहला ही संपर्क, जो न्यून-से-न्यून परमार्थसत्ता का ह्रास है, इसे देश और काल के बंधन में डालने के लिए पर्याप्त है; यद्यपि यह देश और यह काल संभव रूप में अधिक-से-अधिक विस्ताराभाव एवं नित्यता के समीप होगा। परमार्थसत्ता सृष्टिकर्ता ईश्वर के रूप में परिवर्तित हो गई, जो किसी देश में अवस्थित है, अपने स्थान के बिना हिले-डुले अंदर-ही-अंदर पदार्थों को गति दे रहा है। परमार्थसत्ता ही पदार्थ के रूप में ईश्वर है, कहीं कुछ है, एक आत्मा है जो सब पदार्थों में अस्तित्व को धकेलती है। वह सत्-असत् है, ब्रह्म-माया है, प्रमाता-प्रमेय और नित्यशक्ति है, अरस्तु के शब्दों में स्वयं अचल किंतु सबको गति देने वाला, हेगल का परम ब्रह्म, रामानुज का परम (किंतु सापेक्ष) विशिष्ट अद्वैत है—वह सर्वशक्तिमान एवं विश्व का अंतिम कारण है। सृष्टि का आदि नहीं एवं अंत भी नहीं है, क्योंकि ईश्वर के शक्तिसंपन्न होने का कभी आरंभ या कभी अंत नहीं हो सकता। सदा कर्मशील होना इसका अनिवार्य स्वरूप है।

इसमें संदेह नहीं कि यह ऊंचे से ऊंचा विचार है, जिसे बुद्धि सोच सकती है। यदि हम अपनी बुद्धि की प्राकृतिक गति का, जो सांसारिक पदार्थों में एकत्व स्थापित करने का प्रयत्न करती है और परस्पर-विरोधी शक्तियों में भी संश्लेषण उत्पन्न करती है, अंत तक अनुसरण करें तो हमें एक ऐसा व्याख्या-सिद्धांत मिलता है, जो न तो विशुद्ध सत् है, न विशुद्ध असत् ही, किंतु एक ऐसा पदार्थ है जो दोनों को जोड़ता है। सब वस्तुओं को एक संपूर्ण में संकलित करने के द्वारा उक्त विचार का निर्माण हुआ है। इस दृष्टिकोण से दर्शनशास्त्र का स्वरूप रचनात्मक प्रतीत होता है और इसलिए वह स्वभाव से निश्चयात्मक और अपने कार्य में संश्लेषणात्मक है। यहां पर भी तार्किक विचार, जिनका कार्यक्षेत्र अमूर्त भावों में ही है, हमें ठोस से परे रखते हैं, जबकि अमूर्त उन्हीं ठोस पदार्थों में निवास करते हैं, गति करते हैं और अपना अस्तित्व रखते हैं। विचार-बुद्धि युक्ति के रूप में तार्किक विचार की कठिनाइयों से ऊपर उठ जाती है। संसार के इंद्रियानुभवों से चलकर हम ऊपर परम तत्त्व ब्रह्म तक पहुंच जाते हैं और इस प्रकार प्राप्त हुए पूर्ण के

विचार से हम नीचे ब्यौरे तक उतरकर भिन्न-भिन्न अवयवों का ज्ञान करते हैं। समस्त तर्कशास्त्र-संबंधी रूढ़िवाद, जिसे विचार की शक्ति के ऊपर भरोसा है, जगत् के इस प्रत्यय के साथ समाप्त हो जाता है। कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब हम विचार-बुद्धि की परमता में संदेह प्रकट करते हैं। क्या हमारा ज्ञान मानसिक आवश्यकताओं की अपेक्षा नहीं रखता, जो संयुक्त भी करता है और भेद भी करता है? संभवतः एक भिन्न आकृति के मन के लिए ज्ञान भी, जो प्रतीत होता है—उससे भिन्न प्रकार का हो। हमारा वर्तमान ज्ञान हमें यह सोचने के लिए बाध्य करता है कि समस्त ज्ञान इसी प्रकार का होगा, परंतु जब ऐसे समीक्षक हैं जो ऐसे कथन का विरोध करते हैं, तब स्थिति की रक्षा करना कठिन होता है। यह स्वीकार करते हुए कि यथार्थ सत्ता की धारणामयी योजना जो विचार में आई है वह सत्य है तो भी कई बार इस बात पर बल दिया जाता है कि विचार यथार्थ सत्ता के साथ तादात्म्य नहीं रखता। समस्त प्रत्ययों को एकत्र करके एक बना देने पर भी हम प्रत्ययों के आगे नहीं बढ़ने पाते। संबंध मन का एक अंश है जो संबंध स्थापित करता है। अनंतरूपी परम मन भी एक मन ही है और उसी ढांचे का है, जिस ढांचे का मानवीय मन है। विशिष्टाद्वैत का सिद्धांत कुछ उपनिषदों और भगवद्गीता ने तथा बौद्धमत एवं रामानुज मत के कुछ अनुयायियों ने स्वीकार किया है किंतु बादरायण ने नहीं किया। पश्चिम में अरस्तू और हेगल इसके समर्थकों में माने जा सकते हैं।

प्रथम मत के अनुसार पूर्ण सत्ता ही यथार्थ है। अयथार्थ सृष्टि वास्तविक है, यद्यपि हम नहीं जानते कि क्यों है। दूसरे मत के अनुसार दृश्यमान सृष्टि, देश और काल के संबंध से जिसका कारण विशुद्ध आत्मा का मायाजन्य ह्रास है, आभास-मात्र है। और तीसरे मत के अनुसार उच्चतम पदार्थ, जो हमारे सामने है, विशुद्ध सत्ता और असत् का ईश्वर के अंदर संश्लेषण है। हमें तुरंत एक तार्किक आवश्यकता के कारण यथार्थ सत्ता के निर्विकल्प ज्ञान की सब श्रेणियों को अंगीकार करना पड़ता है। जहां तक ज्ञान-विषयक जगत् का संबंध है, यदि विशुद्ध सत्ता के प्रत्यय को निरर्थक कहकर अस्वीकार कर दिया जाए और हम एक कर्ता के रूप में ईश्वर के विचार को भी अतर्क-संगत कह कर त्याग दें, तब जो शेष रह जाता है वह इससे अधिक और कुछ नहीं, कि सृष्टि का यह प्रवाह ऐसा है जो सर्वथा अपने से भिन्न कुछ बनने के लिए उच्च अभिलाषा रखता रहता है। परिणाम में बौद्धमत का ही मुख्य सिद्धान्त आ जाता है। विद्यमान जगत् में विशिष्टाद्वैत की कल्पना के आधार पर निर्विकल्प सत्ता की श्रेणियों के विशेष स्वरूपों का माप उनको अखंड सत्ता से पृथक् करने वाले अंतरों से ही किया जा सकता है। उन सबमें सामान्य व्यापक स्वरूप हैं देश और काल-संबंधी सत्ताएं। अधिक गंभीरता से ध्यान देने पर हमें विशेष गुणों का स्वरूप स्पष्ट हो सकता है। चिंतनशील यथार्थ सत्ताओं और जड़ पदार्थों में भेद स्वीकार कर लेने पर हम माध्वाचार्य के द्वैतदर्शन पर पहुंच जाते हैं। यदि हम सत्पदार्थों को ईश्वर के अधीन परतंत्र मानते हैं, क्योंकि ईश्वर ही एकमात्र स्वतंत्र है, तो मौलिक रूप में यह भी एक अद्वैत ही है। यदि विचारशील प्राणियों पर बल दें तो हमारे सामने सांख्य का अनेकात्मवाद आ जाता है, केवल ईश्वर की सत्ता का प्रश्न न उठाएं, जिसकी सांख्य के अपने शब्दों में सिद्धि नहीं हो सकती। इसके साथ सांसारिक पदार्थों के बहुत्व को जोड़ दिया जाए तो हमारे सामने अनेकत्वयुक्त यथार्थ सत्ता आ जाती है जहां कि ईश्वर भी एक सत्ता के रूप में प्रकट होता है, भले ही वह अन्य पदार्थों के मध्य में कितना ही महान और शक्तिशाली क्यों न हो। यथार्थ सत्ता की निर्विकल्प श्रेणियों के संबंध में विवाद उपस्थित होने पर व्यक्तित्व की इकाई का आधार दार्शनिक की भावना के ऊपर निर्भर करता प्रतीत होता है। और कोई दर्शन-पद्धति नास्तिकता अथवा आस्तिकता का रूप धारण करती है—यह इसके ऊपर निर्भर है कि वह परम सत्ता के ऊपर कितना ध्यान देती है, जिस परम सत्ता के आश्रय में ही इस समस्त विश्व का नाटक खेला जाता है। यह कभी-कभी तो ज्वलंत रूप में अपने प्रकाश को ईश्वर के अंदर केंद्रित करके प्रकाशित हो जाता है और अन्य समयों में धीमा पड़ जाता है। ये भिन्न-भिन्न मार्ग हैं जिनमें मानव-मस्तिष्क अपनी विशिष्ट गुणयुक्त रचनाओं के कारण संसार की समस्याओं की प्रतिक्रिया में उलझा रहता है।

भारतीय विचारधारा में जहां हमें मानव और ईश्वर के बीच निष्कपट संगति मिलती है, वहां दूसरी ओर पश्चिम में—दोनों में परस्पर-विरोध स्पष्ट रूप में लक्षित होता है। पश्चिमी देशों की पौराणिक आख्यायिकाएं भी इसी प्रकार का निर्देश करती हैं। आदर्शभूत पुरुष प्रोमिथियस का पौराणिक उपाख्यान, जो मनुष्य-जाति की सहायता करने का प्रयत्न करता है और मनुष्य-जाति-मात्र को नष्ट करने वाले जीयस से रक्षा करता है एवं नई प्रकार की उत्तम उपजातियां प्रदान करता है; हरकुलीज के घोर परिश्रम की

शेष पृष्ठ 29 पर

मानवता और यांत्रिक औद्योगिकीकरण

किशोर संत ❑

वर्तमान युग का सबसे अधिक प्रभावशाली तत्व इसकी औद्योगिक-यांत्रिक व्यवस्था है जो एक संभ्रांत वर्ग की भोगवादी समृद्धि और सुरक्षा के लिए कार्यरत है। इसके अंतर्गत राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय अर्थतंत्र और राजतंत्र सामरिक तैयारी की व्यवस्था का रूप लेते हैं, जो एक ओर प्राकृतिक संसाधनों का ह्रास करते हैं और दूसरी ओर इससे सामाजिक संबंधों का विघटन भी होता है। गांधीजी ने विलायत और दक्षिण अफ्रीका के अपने अनुभवों के आधार पर इस सभ्यता द्वारा मानवता के लिए पैदा किए गए खतरों को समझा था। उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज' में इसे शैतानी सभ्यता का नाम दिया। इसकी लालसा प्रवृत्ति का खंडन किया और इसके आंतरिक गुण-दोष को समझकर इसे नकारने का संकल्प किया।

महात्मा गांधी का जीवन मानव-आत्मा की स्वचेतना और संपूर्णता की ओर एक पुरातन और अखंड यात्रा की कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। कमोबेश और विविध रूप में सारी मानव चेष्टाएं जीवन की गुणवत्ता और सार्थकता को बढ़ाने में ही लगी रहती हैं। परंतु कभी-कभार एक व्यक्ति का जीवन अपने में—एक युग-विशेष में—एक संपूर्ण लोक की उभरती चेतना और ऊर्जा का समोवश करता है और एक नए पुरुषार्थ का स्रोत बनकर न केवल इतिहास की दिशा बदलता है, मानव चेष्टा का स्तर भी बढ़ा देता है और भावी पीढ़ियों के लिए नए प्रयोगों की संभावनाएं खोल देता है।

ऐसे युग-पुरुष का युग-कर्म उसकी अपनी संस्कृति से अवश्य प्रभावित होता है। साथ ही यह प्रयास मानव-आत्मा की विभिन्न अभिव्यक्तियों में से एक ही हो सकता है और इस आधार पर इसकी नियति नहीं है कि यह तत्काल अथवा आगे चल कर सर्वमान्य हो। समय-समय पर अपने अस्तित्व की स्पष्ट या धुंधलाई झलकें पाने के बावजूद मानव-जाति अपनी अंतिम नियति को नहीं जान सकती। आज प्रमाण की कमी नहीं है कि मानव-जाति एक ऐसे स्वरचित मार्ग पर चल रही है जिसका परिणाम सर्वनाश हो सकता है। इसके बावजूद कुछ आशाजनक संकेत नजर आते हैं कि इस भंवर में भी मानव-जाति की कश्ती डूबने से बच जाएगी। इनमें एक संकेत है अहिंसक साधनों और मानव के कार्यकलापों में हिंसा के स्रोतों की खोज। यहीं पर गांधीजी की प्रासंगिकता प्रतीत होती है और आज इसका महत्त्व उस समय से भी अधिक है, जब गांधीजी ने अपनी आस्था को जिया और इसके आधार पर विविध भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रयोग किए।

गांधीजी के युगकर्म को निम्नोक्त दस प्रस्तावनाओं का आधार समझा जा सकता है, अलबत्ता इन्हें परिपूर्ण नहीं माना जा सकता। इन प्रस्तावनाओं को गांधीजी के कर्म की मौलिकता और विशेषता को चित्रित करने का प्रयास माना जा सकता है—

1. गांधी-कर्म युग-कर्म है।

2. गांधी-कर्म का स्रोत एवं कर्ता इस कर्म को करने वाले की आत्मा है।

3. गांधी-कर्म मूलतः आध्यात्मिक है।

4. गांधी-कर्म निश्चित नैतिक सिद्धांतों पर आधारित है।

5. गांधी-कर्म अनुशासित और सुव्यवस्थित है, जिसका प्रयोग नपे-तुले ढंग से किया जाता है।

6. गांधी-कर्म जनाधारित है, जिसमें जनसाधारण में विश्वास और उनकी भागीदारी अनिवार्य है।

7. गांधी-कर्म का स्वरूप आंदोलनकारी है, न कि संस्थागत कार्यक्रम प्रयोजन।

8. गांधी-कर्म ऊर्ध्वगामी एवं इनकलाबी है, इसमें निर्बल को बलवान बनाने की कला और शक्ति है।

9. गांधी-कर्म सहजीवों और उनकी पीड़ा के प्रति असीम संवेदना से प्रेरित है और इसमें रमा हुआ है।

10. गांधी-कर्म नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों और प्राकृतिक नियमों के बीच संगति और एकात्मकता की सतत खोज और प्रयास है।

इन प्रस्तावनाओं को सामने रखते हुए यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि इस गांधी-कर्म का आधुनिक युग के साथ क्या संबंध हो सकता है? इसका उत्तर खोजने से पहले हमें इस युग की विशेषता को समझना होगा।

वर्तमान युग का सबसे अधिक प्रभावशाली तत्त्व इसकी औद्योगिक-यांत्रिक व्यवस्था है जो एक संभ्रांत वर्ग की भोगवादी समृद्धि और सुरक्षा के लिए कार्यरत है। इसके अंतर्गत राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय अर्थतंत्र और राजतंत्र सामरिक तैयारी की व्यवस्था का रूप लेते हैं, जो एक ओर प्राकृतिक संसाधनों का ह्रास करते हैं और दूसरी ओर इससे सामाजिक संबंधों का विघटन भी होता है। गांधीजी ने विलायत और दक्षिण अफ्रीका के अपने अनुभवों के आधार पर इस सभ्यता द्वारा मानवता के लिए पैदा किए गए खतरों को समझा था। उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज' में इसे शैतानी सभ्यता का नाम दिया। इसकी लालसा प्रवृत्ति का खंडन किया और इसके आंतरिक गुण-दोष को समझकर इसे नकारने का संकल्प किया।

इस समझ और संकल्प के साथ गांधीजी ने भारतीय संस्कृति एवं आध्यात्मिक धरातल का पुनः समर्थन किया और अपना सारा जीवन आधुनिकता से आगे नए मानव-जीवन के लिए सिद्धांत और कर्म की खोज, आविष्कार और उसके लिए संघर्ष में लगाया।

यह कैसे घटित होता है? यह कैसे संभव है कि एक अकेला व्यक्ति सारे युग को, एक सभ्यता को चुनौती दे? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए व्यक्ति, समाज और वास्तविकता की भौतिक अवधारणाओं से कहीं आगे देखना पड़ता है। इसमें इस तथ्य को पहचानना जरूरी है कि मानव व्यक्तित्व मूलतः आत्मा-स्वरूप है, जिसमें परमात्मा का अंश है। इस दृष्टि से काल-विशेष में, जब कोई व्यक्ति अपने-आप को इस रूप में देखता है, अपनी भौतिक प्रवृत्तियों को नियंत्रित करता है और अपनी आत्मा को इनके बंधनों से मुक्त कर मानवता और सृष्टि के लिए बेहतर मूल्यों का सृजन करता है, तो वह अपने जीवन को एक उच्च स्तरीय जिम्मेदारी के सोपान तक ले जाता है। यहां से वह अपने युग की प्रचलित सांसारिक समझ और मूल्यों को चुनौती देता है।

गांधी-कर्म का स्रोत-बिंदु यही आत्मबोध है। यहां एक साथ कई द्वैत पक्षों का समावेश है : तात्कालिक और अनंत, स्व एवं विश्व, भौतिक तथा आध्यात्मिक, वास्तविक और संभावित। यह गांधी-दृष्टि केवल वास्तविकता का स्थिर प्रतिबिंब मात्र नहीं है। इसमें समझ के साथ-साथ प्रकाश प्रदान करने की शक्ति है। परंतु ये भी वास्तविकता को बदलने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकते। बदलाव के लिए आवश्यक है एक दायित्वपूर्ण संबंध, प्रतिज्ञा—जो पलायन और गैर-जिम्मेदारी के विपरीत है। गांधीजी का जीवन वर्तमान युग एवं सभ्यता के साथ जूझने की महान प्रतिबद्धता दर्शाता है। गांधीजी ने अपने इंग्लैंड प्रवास के दौरान योरोप की औद्योगिक वास्तविकता में कोई रुचि नहीं दिखाई। ऐसा प्रतीत होता है कि गांधीजी ने जॉन रस्किन और लियो तालस्ताय से प्रभावित होकर आधुनिक औद्योगिकी के चरित्र को स्वीकारने के बजाए इसे पूर्णतः नकार दिया। यूनानी मिथकों में एक चरित्र है, जिसका नाम है—सिसीफस, इसे शाप है कि उसे अपने आगे खड़ी एक भारी चट्टान को धकेलते हुए पहाड़ के शिखर पर पहुंचना है। यह चरित्र और चित्र आधुनिक मनुष्य की दशा को दर्शाते हैं, जिसके अंतर्गत मानव के पास इसके अलावा कोई चारा नहीं कि वह अपने ही द्वारा रचित इस औद्योगिक सभ्यता के भार को ढोए, इसे जिए और इससे आगे निकले। गांधीजी ने मानव-आत्मा को इस बोझ से मुक्त रखने का रास्ता सुझाया।

20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिकीकरण के विस्तार की गति में बढ़ोतरी हुई, जिसके फलस्वरूप सामाजिक ताने-बाने, मानव-संवेदनशीलता और प्राकृतिक संसाधनों की अपूर्व क्षति हुई। गांधीजी का मानना था कि मानवता और प्रकृति इस भार को सहन नहीं कर पाएंगी। इसलिए इस यांत्रिक औद्योगिकीकरण की गति को कम करना होगा और इसे मानवता के मापदंडों के अनुसार मर्यादित करना होगा। यही कसौटी समाज की व्यवस्थाओं के लिए लागू करनी होगी। गांधीजी द्वारा इस युग की यांत्रिक और व्यवस्थागत वास्तविकताओं को नकारने का

परिणाम यह है कि उनके अनुयाइयों के समक्ष आज भी यक्ष-प्रश्न खड़े हैं और भारत के विकास व राजकाज के संदर्भ में अपनी नीति और भूमिका—दोनों ही स्पष्ट नहीं कर पाए हैं।

क्या इसका अर्थ यह है कि मानव-प्रगति में गांधी और गांधीजन एक अजूबे की तरह ही देखे जाएंगे? गांधीजनों की निराशा और बिखराव से कुछ ऐसा ही लगता है, परंतु यह ध्यान रखने योग्य है कि गांधी के मूल्यों और सिद्धांतों का क्रियान्वयन संस्थागत स्वरूप पर निर्भर नहीं रहता। आध्यात्मिक दृष्टि से इसे आत्मा की अपनी स्वतंत्रता और संपूर्णता की प्राप्ति के प्रयास के रूप में ही देखा जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह भारतवासियों की अपनी नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर जागृति और स्वतंत्रता के आंदोलन का रूप है। गांधी-कर्म की यही विशेषता है कि यह धर्मपरायण है, जिसमें आध्यात्मिकता और व्यावहारिकता का समावेश है। स्वतंत्रता के लिए कार्यरत होकर भी इसमें सत्य और अहिंसा का कठोर अनुशासन है। इसके द्वारा प्रवाहित अपार जनशक्ति एक ओर यथास्थिति को बदलने में लगती है तो दूसरी ओर यह नई समाज-व्यवस्था की रचना के सटीक प्रयोग करती है।

यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या इस प्रकार का आध्यात्मिक, अनुशासित और नैतिक प्रयोग जनसाधारण द्वारा सामूहिक रूप से किया जा सकता है? इसका एक उत्तर तो भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास से मिलता है। 50 और 60 के दशकों में संयुक्त राज्य अमेरिका में अफ्रीकी मूल के लोगों द्वारा किया गया नागरिक अधिकार प्राप्ति का आंदोलन भी इसका स्पष्ट उदाहरण है, परंतु इस के मर्म को समझने के लिए जनसाधारण के चरित्र और संस्कृति को देखना होगा।

संभ्रांत और अधिनायकवादी दृष्टि से आम लोगों के बारे में यह अवधारणा है कि वह अंधविश्वास और आदत से ग्रस्त, समान प्रवृत्ति वाला ऐसा जनसमूह है जिसे कमोबेश जोर-जबरदस्ती से ही व्यवस्थित किया जा सकता है। इसके विपरीत दूसरी मान्यता है कि हर मनुष्य में दैविक अंश है।

हजारों वर्षों की व्यक्तिगत, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति के अंतर्गत मनुष्य की आत्मा मानव-संबंधों, कलाकृतियों, दर्शन और नैतिकता के विभिन्न स्वरूपों में प्रकट हुई है। समुदायों के रूप में मनुष्य स्वभाव तथा आवश्यकता—दोनों के आधार पर नैतिकता का धनी है। मनुष्य में सृजन और आविष्कार करने की भी शक्ति है और इसके आधार पर प्रतिभाशाली और सत्ता-संपन्न होने की प्रवृत्ति भी है। इस प्रयास में मनुष्य समुदाय से अलग होकर दूसरों पर नियंत्रण कर अपने-आप में सत्ता का केंद्र बन जाता है। जब यह स्वनिर्मित सत्ता नैतिकतारहित या धर्मविहीन रूप लेती है तो एक ऐसा संभ्रांत वर्ग उभरता है जो शैतानी या मानवता-विरोधी प्रवृत्ति का होता है। यह अधर्मी सत्ता एक छोटे समुदाय में, राष्ट्र में, समाज में या पूरे विश्व तक फैल सकती है। आज की स्थिति यही है। इसका विस्तार जैसे-जैसे बढ़ता है, इस सत्ता को बनाए रखने के लिए संस्थागत व्यवस्थाएं भी स्थापित होती हैं। अपने आकार और पैठ को बढ़ाने के लिए मानव को अपनी गिरफ्त में रखने वाली व्यवस्थाएं अपने-आप को धार्मिक और नैसर्गिक दर्शाने लगती हैं। अपनी सत्ता को व्यवस्थित और स्वीकार्य करने के साथ-साथ शासक साम, दाम, दंड और भेद के अस्त्रों को काम में लेता है।

भारत में जनसाधारण के चरित्र के बारे में एक अन्य दृष्टि हमें बंगाली लेखक ताराशंकर बंद्योपाध्याय से मिलती है। उन्होंने अपने उपन्यास गणदेवता की भूमिका में भारत के ग्रामीण जीवन के बारे में लिखा है : 'भारत के ग्रामीण जीवन की परम्पराएं सामान्यतया अन्य औद्योगिकीकरण-पूर्व कृषि-आधारित समाजों की तरह ही हैं, परंतु पंजाब-सिंध-गुजरात-मराठा-द्राविड़-उत्कल-बंग के इस विशाल विस्तार वाले समाज में एक और व्यापक तत्त्व रहा है जिसे अनुशासन कह सकते हैं। यह अनुशासन नीति पर आधारित है जिसका अर्थ है कि इसमें न्याय-अन्याय-बोध है। यह बोध प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जीवन के हर पहलू का अभिन्न अंग है। पूरी सामाजिक परंपरा इस बोध पर आधारित रही है। इसी बोध के कारण प्राकृतिक विविधता के बावजूद भारत के ग्राम-जीवन में तकनीकी और व्यावहारिक दृष्टि से एक आश्चर्यजनक समानता है।'

गांधी-कर्म भारत के जनसाधारण के इस अनुशासन एवं बोध पर आधारित था। हमारे सामने प्रश्न यह है कि क्या यह धर्म और नीति-बोध लालसा से प्रेरित हिंसक औद्योगिकी सभ्यता के आक्रमण के सामने टिक पाएगा? क्या मानवता की नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति इस विनाशक प्रवाह को रोक पाएगी या वह स्वयं इसका शिकार हो जाएगी? आज के हालात में कई ऐसे संकेत हैं जिनसे

यह लगता है कि आज की व्यवस्थाएं इन विनाशक शक्तियों को नहीं रोक पा रहीं हैं। हिंसक प्रवृत्तियों में बढ़ोतरी, हिंसा के बल पर विश्व पर आधिपत्य, असीम उपभोग हेतु असीम उत्पादन और इसके द्वारा संसाधनों की क्षति, विश्वव्यापी तापमान में वृद्धि जैसे पर्यावरणीय संकट इसके कुछ उदाहरण हैं।

पर इस घोर अंधकार में कुछ आशा और विश्वास के बिंदु भी हैं। इनमें मौलिक बिंदु यह है कि मानवता के आंतरिक गुण समाप्त नहीं किए जा सकते। मानव का धर्म और नीति-बोध—सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवहार में नष्ट होकर भी मानव की संवेदना, विचार और संबंधों में टिका रहता है। जब मानव को इस घोर धर्म-संकट का एहसास होता है, तो मानव-चेतना और चेष्टा पुनः अपनी नैतिक शक्ति का सहारा लेकर अपनी सचाई की ओर बढ़ती है। आज भी इस संवेदना के आधार पर विश्व-शांति, पर्यावरण-सुरक्षा, सामाजिक-न्याय और अपने संसाधनों पर अधिकार के संघर्ष एवं आंदोलन सक्रिय हैं। इन सबके साथ गांधीजी के विचारों और प्रयोगों को समझने के लिए विश्व-भर में रुचि पैदा हुई हैं। गांधी-विचार और कर्म की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक विशेषताओं और संस्थागत रूढ़ियों एवं कर्मकांड से परे नए गांधी-मार्ग के खोज की प्रबल संभावनाएं बनी हैं, जिन्हें स्वतंत्र साधकों द्वारा प्रशस्त किया जा सकता है।

बुद्धिजीवियों के लिए भी अब यह जरूरी है कि उन्हें अपने स्वधर्म हेतु गांधी-विचार की समसामयिक शक्ति को समझना होगा। विचार और वाणी के वाहक और पात्र के रूप में वह आत्मा की प्रेरणा के बहुत निकट है। मानवता के इस संकटकाल में उनका दायित्व है कि वे स्पष्टद्रष्टा बनें और सत्य को निडर होकर मानवता के समक्ष रखें। यह कर्म अकादमी के बंद कमरों और गलियारों में नहीं किया जा सकता। सुकरात की तरह उन्हें चौराहों और चौपालों में विचरना होगा, जहां लोग ऐसे प्रश्न खड़े कर रहे हैं, जिनके विशालकाय उत्तर हैं।

सुकरात की इन पंक्तियों से यह लेख समाप्त करना समीचीन होगा, जो यह दर्शाती हैं कि बुद्धि एवं आत्मा से प्रेरित मनुष्य प्रचलित मान्यताओं को कैसे चुनौती देते हैं। सुकरात के इस कथन से यह भी सामने आता है कि वह पुरातन मनीषी और हमारे युग का यह महात्मा—दोनों अपने युगकर्म में समान प्रेरणा के धनी थे। सुकरात कहते हैं—

'...और मैं विश्व में विचरता हूं, एक ही ध्येय लेकर, यह जानने के लिए कि कौन-सा नागरिक या प्रदेशी गुणी और समझदार है। अगर वह ऐसा नहीं है, तो मैं उसे दर्शाता हूं कि वह ऐसा नहीं है। मैं इस कर्म में इतना मगन रहता हूं कि मेरे पास दुनियादारी के लिए या मेरे स्वार्थ के लिए कोई अवकाश नहीं। भगवान से प्रेरित इस सेवा कार्य में लगे रहने के सिवाय मेरे पास कोई चारा नहीं।

'...फिर मैं एक से दूसरे व्यक्ति के पास गया। मुझे लगा कि वह मुझे शत्रु मानता है और इससे मुझे पीड़ा हुई और डर भी लगा, परंतु मेरे लिए मेरे कर्म की अनिवार्यता थी—मेरा मानना था कि दिव्य वाणी को सबसे पहले रखना ही होगा।' ❖

मेरे विचार से यह समझना बहुत आवश्यक है कि जब तुम करुणा का विकास करते हो तो पारिभाषिक रूप में तुम अन्य सत्त्वों के दुखों को बांटने का प्रयास कर रहे हो। उस दृष्टिकोण से तुम अपने-आप पर अतिरिक्त दुख का बोझ डाल रहे हो। इसमें यह तत्त्व है। इसी कारण उस अनुभव में निहित तात्कालिक भावना अथवा अनुभूति से कुछ असुविधाओं को झेलने की नौबत आ सकती है। परंतु उसकी गहराई में व्यक्ति में एक उच्च स्तर की सतर्कता की भावना होनी चाहिए क्योंकि तुम जान-बूझकर और स्वेच्छा से एक महत् उद्देश्य के लिए दूसरों के दुख को झेल रहे हो। यह उस परिस्थिति से बिलकुल भिन्न है जिसमें तुम अपने ही दुख के बारे में सोचते हो जो तुम्हें इस हद तक अभिभूत कर देता है, बोझिल कर देता है कि तुम्हारी कार्य-शक्ति जड़ और मंद पड़ जाती है। करुणार्जन के लिए दूसरों के दुख को अपने ऊपर लेते समय व्यक्ति जिस प्रकार की असुविधा का अनुभव करता है, उसमें एक सतर्कता, एक सोच की भावना निहित होती है। इसलिए तुम जितना अधिक दूसरों के दुख को अपने ऊपर झेलते हो, तुम्हारा निश्चय और सतर्कता की भावना उतनी ही अधिक होती है। यही बात व्यक्ति को ध्यान में रखना चाहिए।

—दलाई लामा

अनुभूति

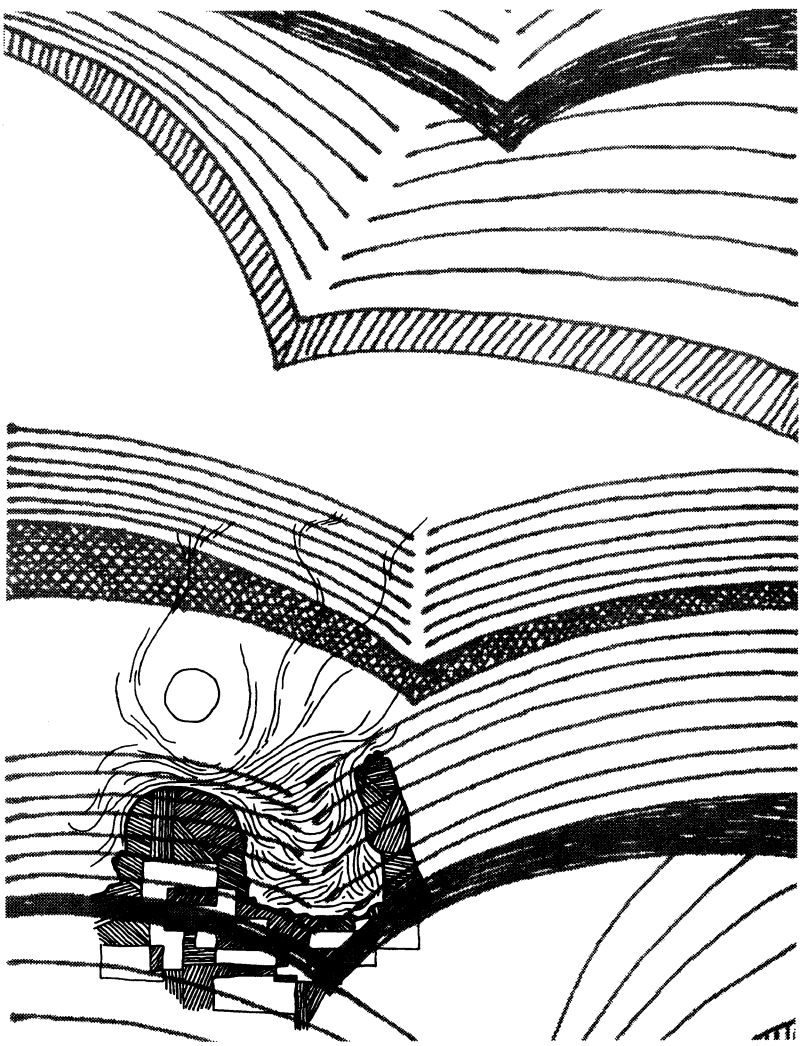

सुनो वत्स!
मुझको यदि मानते हो गुरुजन
तो बात सुनो
सहते चलो सब-कुछ
माथे पर शिकन नहीं लाना कभी
मन में घृणा नहीं लाना कभी
घृणा वह जहर है
जो नसों में प्रवाहित
रक्त को दूषित करता है
और वह रक्त
वह तुम्हारा रक्त
अंततोगत्वा मुझको ही तो पीना है!

—धर्मवीर भारती

लोग चाहे कुछ भी कहें, अच्छा कहें, बुरा कहें, सम्मान दें, अपमान दें—पर व्यक्ति अपने को जैसा है वैसा ही प्रकट करे। यही सत्य का तप है। तप यही कि अभी जो भीतर बुराइयां हैं, प्रकट होने से उन्हें फिर झेलनी पड़ेंगी। प्रकट होने से फिर अड़चन आएगी। फिर जो न करने की अवस्था बनेगी—यही संयम। जब संयम पैदा होता है तो व्यक्ति सच्चा बनने लगता है। वह दिखावा नहीं करता। जो जरूरी है, वही करता है। वह भीड़ से हट जाता है, अपने ढंग से जीता है। समझौतावादी नहीं होता। यही सोचता है कि इसके जो भी परिणाम होंगे, उनका ताप भोग लूंगा। अपने से राजी होना बड़ा संयम है। फिर भीतर उतरना आरंभ हो जाता है और आत्मज्ञान का रास्ता सरल हो जाता है।

सत्य एक विवेचन

वचनसिंह मैहता ❑

कुछ समय पूर्व 'जैन भारती' में संपादकीय था—'सत्य यश : विचारणीय पहलू'। बहुत महत्त्व-पूर्ण विषय का प्रतिपादन किया गया था और कई प्रश्न भी उभारे गए थे। उसमें ऋषि-मुनि, आचार्य विनोबा भावे, महात्मा गांधी के विचारों और भारत के ध्येय वाक्य सत्यमेव जयते की ओर ध्यान आकर्षित किया गया था। बचपन में पढ़ी कहानियों—यथा सत्यवादी हरिश्चंद्र, भक्त प्रह्लाद, इमाम हसन हुसैन व ईसाई संत और ऐसे कई किस्सों को याद किया गया जो बताते हैं कि सत्यभाषी कैसे-कैसे कष्ट उठाते रहे, तब भी उन्होंने अपना सत्यव्रत नहीं छोड़ा। विरोधाभासी स्थिति का भी बयान किया गया, जिसमें कई अनैतिक जन सफल दिखाई देते हैं और सत्य-तप वाले असफल माने जाते हैं। विडंबना यह है कि वहां भी सत्य का लेप चढ़ाकर ही असत्य का अस्तित्व स्थापित किया जाता है और फिर सत्य ठगा-सा प्रतीत होता है। ऐसे में प्रश्न किया गया है कि सत्य क्या है? क्या इसकी परिभाषा हो सकती है? स्पष्ट है कि सत्य का यश तो निर्विवाद है, पर जो द्वंद्व उपस्थित होते हैं, वे भी विचारणीय हैं। इन्हीं से संबंधित बिंदुओं को भारतीय मनीषा की दृष्टि से समझने का प्रयत्न किया गया है।

सत् और असत्

श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि—'हे अर्जुन, असत् (वस्तु) का तो अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इस प्रकार, इन दोनों को हम तत्त्वज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है।' वे कहते हैं कि सत्य और असत्य को पहचान लेना ही ज्ञान है, प्रज्ञा है। जो है, और सदा है, और जिसके न होने का कोई उपाय नहीं है—वही सत् है। लेकिन जो कभी नहीं था और फिर कभी नहीं हो सकता है, जिसके न होने की संभावना है—वही असत् है। असत् वही है जो नहीं है, फिर भी है। जो नहीं है और होने का भ्रम देता है—जैसे स्वप्न। जिसे आगे-पीछे न होना हो और बीच में होना हो—वह असत्य है। एक समय नहीं था, बीच में है और एक समय आता है कि नहीं हो जाता है। दो न होने के बीच में जो होना है—वह असत्य है। जो क्षणभंगुर है, वह असत्य। संसार को अर्थात् वस्तुओं को इसीलिए तो ज्ञानियों ने माया कहा है।

फिर सत् क्या है? जिसका न होना है ही नहीं—सोयें तो भी है, जागें तो भी, समाधि में भी, मृत्यु में भी, जो चेतना की हर स्थिति में है—वही सत् है। जो बीच के असत् को पहचान लेता है, जो क्षण-भर पहले नहीं था, क्षण-भर बाद नहीं हो जाएगा, वह न सुखी होता है और न दुखी। यदि असत्य का पता लग जाए तो सत्य अपने-आप प्रकट होने लग जाता है। इसका उल्टा भी हो सकता है।

असत् हमेशा समय में होता है। इसलिए कि कल नहीं था, आज है और कल नहीं हो जाएगा। उसके तीन विभाजन हुए— अतीत, वर्तमान और भविष्य। परंतु सत्य सदैव है, अतः इसके साथ समय की धारणा नहीं है। सत्य कालातीत होता है, समय के बाहर।

असत्य से समझौता

पर लोग सत्य से राजी नहीं होते। जो नहीं है, असत्य है—उससे राजी हो जाते हैं। जो भीतर है, वास्तविक है, उसे प्रकट नहीं करते, मन-वाणी की सरलता नहीं रखते। सोचते हैं कि मन-वाणी की सरलता आ जाए तो खतरे में पड़ेंगे, क्योंकि अधिक लोग ऐसे नहीं हैं—जटिल हैं, झूठ और चालाकी से भरे हैं, वह नहीं कहते जो भीतर है। एक कहानी प्रचलित है—एक सम्राट रास्ते पर नंगा निकल जाता है, क्योंकि एक धोखेबाज आदमी ने भरोसा दे दिया है कि वह देवताओं के वस्त्र पहने हुए है। उसने लाखों रुपये लेकर कहा था कि वह देवताओं के वस्त्र लाएगा। उसने एक-एक वस्त्र उतारने का सम्राट को कहा। सम्राट ने अपनी टोपी निकाली। उसने पेटी में से खाली हाथ बाहर निकाला। सम्राट ने देखा कि टोपी तो हाथ में नहीं है। उसने कहा—हाथ तो खाली है। उस आदमी ने सम्राट के कान में कहा कि जब मैं चलने लगा तो देवताओं ने मुझ से कहा था—ये वस्त्र केवल उसी को दिखेंगे जो अपने ही बाप से पैदा हुआ हो। उस सम्राट को अब टोपी दिखाई देने लगी, क्योंकि एक नई झंझट खड़ी हो गई। तो उसने कहा—अहा! बड़ी सुंदर टोपी है, मैंने ऐसी टोपी कभी नहीं देखी और उसने टोपी सिर पर रखली, जो थी ही नहीं। बाकी वस्त्र भी उतारने लगा। दरबारी घबराए कि सम्राट नंगा हुआ जा रहा है। जब आखिरी वस्त्र भी उतार दिया तो उस आदमी ने जोर से कहा कि दरबारियों! देवताओं ने कहा था कि ये वस्त्र उन्हीं को दिखेंगे जो अपने ही बाप से पैदा हुए हों।

सम्राट ने कहा—कितने सुंदर हैं वस्त्र। दरबारी भी आगे बढ़ गए, वस्त्रों की तारीफ करने में। अब हर कोई तारीफ करने लगा कि कोई उसे ऐसा न समझे कि वह अपने ही बाप का बेटा नहीं है। उस बेईमान आदमी ने कहा कि देवताओं ने कहा है कि पहली बार ये वस्त्र धरती पर गए हैं, अतः इनका जुलूस निकालना जरूरी है। राजधानी में खबर फैल गई कि सम्राट को देवता के वस्त्र मिले हैं, लेकिन शर्त यह है कि वे उसी को दिखते हैं जो अपने ही बाप से पैदा हुआ हो। लाखों लोग रास्तों के किनारे खड़े थे। सभी को वस्त्र दिखाई पड़ रहे थे। केवल एक छोटा बच्चा जो अपने पिता के कंधे पर था, उसने अपने बाप से कान में कहा—पिताजी! राजा नंगा है। बाप ने कहा—चुप रह, नासमझ। अभी तेरी उम्र नहीं है। जब बड़ा होगा तब अनुभव से तुझे भी वस्त्र दिखाई देने लगेंगे। यदि यह समाज झूठ को पकड़े है, तो सत्य इसी प्रकार अराजकता लाएगा। इसी तरह लोग असत्य से समझौता करते रहेंगे। सभी झंझट से, कष्ट से बचना चाहते हैं।

यात्रा कष्टदायी

सत्य की यात्रा पर हमेशा ही कष्ट हुआ है, होगा। यदि कष्ट न होता तो दुनिया में इतना असत्य होता भी नहीं। सत्य की यात्रा पर कष्ट है, इसीलिए तो लोग असत्य के साथ राजी हैं। सत्य असुविधापूर्ण है और झूठ सुविधापूर्ण है, क्योंकि वह चारों ओर है। बाप अपने बेटे से यही तो कह रहा है कि—उपद्रव खड़ा मत कर। सब को वस्त्र दिखाई दे रहे हों तो अपने को भी वस्त्र दिखाई देना ही सुविधापूर्ण है, नहीं तो झंझट खड़ी हो जाएगी। यह जरूर है, कि जब कोई व्यक्ति यह संकल्प करेगा कि वह सरल हो जाएगा, तो कठिनाइयां तो आएगी, पर ऐसा व्यक्ति तय कर ले कि सुविधा के बदले वह आत्मा नहीं बेचेगा, तो धीरे-धीरे सरलता को उपलब्ध होता जाएगा। कठिनाई शुरू में हो सकती है, पर एक बार सत्य के साथ तालमेल बैठ जाए तो फिर आगे कठिनाई कम होती चली जाएगी। एक झूठ बोलने पर सौ झूठ बोलने पड़ते हैं, क्योंकि झूठ को बचाना हो तो पूरी दीवार खड़ी करनी पड़ती है। सत्य के लिए कोई इंतजाम नहीं करना पड़ता। झूठ के लिए बहुत अच्छी स्मृति भी चाहिए, क्योंकि कब क्या बोला, इसका हिसाब न रखा जाए तो आगे गड़बड़ हो जाती है। यह जरूर है कि असत्य के साथ पहले सुविधा होती है, बाद में असुविधा होने लगती है, क्योंकि असत्य अंत तक टिक नहीं सकता। सत्य के साथ पहले असुविधा होती है और बाद में सुविधा होती है, क्योंकि अंत में सत्य ही जीतता है। यदि स्वाद मीठा मालूम पड़ने से शक्कर में लिपटा जहर खा भी लें तो परिणाम तो बुरा ही होगा। अंतिम स्वाद को ध्यान में रखना जरूरी है, क्योंकि सत्य के साथ झेली गई कठिनाई का फल अवश्य मीठा होता है।

सत्य ही तप, संयम

इसीलिए महावीर ने कहा है—'सच्चम्मि वसदि तवो, सच्चम्मि संजमों तह वसे सेसा वि गुणा। सच्चं

णिबंधणं हि य गुणाणमुद्धीव मच्छाणं।।' सत्य में तप, संयम और समस्त गुणों का वास होता है। जैसे समुद्र मत्स्यों का कारण (उत्पत्ति स्थान) है, वैसे ही सत्य समस्त गुणों का कारण है। महावीर कहते हैं कि सत्य आचरण है। जिसने सत्य को साध लिया, उसे सब सध जाएगा। फिर अलग-अलग कुछ साधने को बचता ही नहीं। सत्य का अर्थ है—बाहर-भीतर एक हो जाना, मन, वचन व कर्म से सरल हो जाना। जैसे हैं—वैसे दिखना, मुखौटों से छुट्टी। जैसे नहीं हैं, वैसा दिखाएं तो महावीर के शब्दों में वह पाखंड हो गया, असत्य हो गया। न किसी से तुलना, न किसी की निंदा और अपने को परिपूर्णता में स्वीकार करना—यही सत्य का मार्ग है। लोग चाहे कुछ भी कहें, अच्छा कहें, बुरा कहें, सम्मान दें, अपमान दें—पर व्यक्ति अपने को जैसा है वैसा ही प्रकट करे। यही सत्य का तप है। तप यही कि अभी जो भीतर बुराइयां हैं, प्रकट होने से उन्हें फिर झेलनी पड़ेगी। प्रकट होने से फिर अड़चन आएगी। फिर जो न करने की अवस्था बनेगी—यही संयम। जब संयम पैदा होता है तो व्यक्ति सच्चा बनने लगता है। वह दिखावा नहीं करता। जो जरूरी है, वही करता है। वह भीड़ से हट जाता है, अपने ढंग से जीता है। समझौतावादी नहीं होता। यही सोचता है कि इसके जो भी परिणाम होंगे, उनका ताप भोग लूंगा। अपने से राजी होना बड़ा संयम है। फिर भीतर उतरना आरंभ हो जाता है और आत्मज्ञान का रास्ता सरल हो जाता है।

महावीर ने सत्य को सभी गुणों का सागर बताया। समुद्र में सभी नदियां गिरती हैं। एक-एक नदी को क्या गिनना। जरूरत भी नहीं है, सागर में सभी नदियों का वास है। सत्य को पा लिया तो सागर को पा लिया, सभी गुणों को पा लिया। जैसे सभी नदियों का आश्रय सागर है, ऐसे ही सत्य सभी धर्मों का आश्रय है। एक साधे, सभी सधे।

सत्य है सनातन

श्रीकृष्ण ने गीता के चौथे अध्याय के प्रारम्भ में कहा है कि 'हे अर्जुन! मैंने इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में सूर्य के प्रति कहा था और सूर्य ने अपने पुत्र मनु के प्रति कहा और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु के प्रति कहा। इस परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना। परंतु, हे अर्जुन! यह योग बहुत काल से पृथ्वीलोक से लुप्तप्राय हो गया है।' इस प्रकार उन्होंने कहा कि सत्य न नया है, न पुराना। जब से पृथ्वी पर सूर्य अर्थात् प्रकाश की प्रथम घटना घटी है, तब मैंने यही सूर्य से कहा था। यहां 'मैं' का अर्थ श्रीकृष्ण की जन्मी देह से नहीं है, वे व्यक्ति की तरह नहीं, परमात्मा की तरह, समष्टि की तरह बोल रहे हैं। वे अर्जुन से यह कह रहे हैं कि जो बात मैं तुमसे कह रहा हूं वह अनादि काल से कही गई है। वे यह नहीं कह रहे हैं कि अभी ही कोई नई बात तुम्हें कह रहा हूं। वे तो कह रहे हैं—जो बात मूल से है, मौलिक है, हमेशा से है, सनातन है, शाश्वत है—वही बात कह रहा हूं। सत्य समय से नहीं बदलता, वह समय के बाहर है। ऐसा नहीं है कि आज सत्य और है और कल दूसरा हो जाएगा। वह सनातन है।

सत्य विराट, शब्द छोटे

श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि इसे राजर्षियों ने जाना। वे यह नहीं कह रहे हैं कि उन्होंने सुना या पढ़ा, क्योंकि जानना कुछ और बात है। सत्य को जानना निपट मौन और शून्य में ही घट सकता है। शब्द के मार्ग की यात्रा सही नहीं है, क्योंकि सत्य शब्दों में नहीं कहा जा सकता। सत्य है विराट और शब्द बहुत छोटे। जो कहना चाहते हैं, शब्दों में कहा ही नहीं जा सकता। यदि पक्षियों को गीत गाते, सूरज को उगते, फूलों को खिलते देखने के अनुभव का पूरा वर्णन करना चाहें—तो पाएंगे कि जो कहना चाहते हैं, उसके लिए कोई शब्द भी नहीं है, जो देखा वह सारा कहा नहीं जा सकता। अतः सत्य पूरा बताया नहीं जा सकता, कुछ तो लुप्त हो ही जाता है।

बुद्ध से कोई पूछने आता कि सत्य क्या है? तो वे कहते कि—यह मत पूछो, क्योंकि यह तो कहा नहीं जा सकता, और कहा भी जाए तो समझा नहीं जा सकता और समझ भी लिया जाए तो हमेशा गलत समझ लिया जाता है। तुम यह मत पूछो कि सत्य क्या है। तुम तो यह पूछो कि आंख क्या है, जिससे सत्य जाना जाता है। लाओत्से पर जब लोगों ने जोर डाला कि अपने अनुभव लिख दें, तो उसने कहा—मुझे मुश्किल में मत डालो, क्योंकि जो मैं लिखूंगा—वह मेरा अनुभव नहीं होगा। फिर भी दबाव में, मित्रों के बहुत आग्रह पर उन्होंने अपनी किताब लिखी। किंतु किताब के पहले ही लिखा कि जो कहा जा सकता है, वह सत्य नहीं है और सत्य वही है जो नहीं कहा जा सकता है। इस शर्त को ध्यान में रखकर मेरी किताब पढ़ना। वास्तव में सत्य तो 'गूंगे का गुड़' होता है।

सत्य अखंड

सत्य असीम है, अखंड है। पर, देखने की हमारी क्षमता सीमित है। दो विपरीतताओं को हम एक साथ नहीं

देख सकते। जब एक हिस्सा दिखाई देता है तो दूसरा नहीं दिखता। दूसरा दिखता है तो पहला आंखों से ओझल हो जाता है। समग्र नहीं देख पाते। सत्य के संबंध में वैसी ही हालत है—जैसे हाथी के पास अंधों की हो गई थी। सबने हाथी को देखा था, परंतु पूरा नहीं देखा था। किसी ने हाथी का पैर देखा था, किसी ने हाथी का कान देखा था और किसी ने हाथी की सूंड देखी थी और वे सब सही थे, फिर भी वे सब गलत थे। सब हाथी देखकर आए थे। किसी ने कहा, हाथी सूप की भांति है, किसी ने कहा हाथी मंदिर के खंभे की भांति है। बड़ी मुश्किल हो गई थी। निर्णय कुछ भी नहीं हो सकता, क्योंकि सभी की बातें एक-दूसरे के विपरीत थीं। सबने अधूरा देखा था, इसलिए बातें विपरीत लगती थीं। यदि हाथी से पूछें तो वह कहेगा—यह सब मैं हूं। यदि यह कहें कि जितना मैंने देखा है—वह ऐसा है, तो कोई भूल नहीं है। परंतु हर कोई दूसरे के वक्तव्य को गलत सिद्ध करने में लगा रहता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि सत्य का पूरा प्रतिपादन होना चाहिए। महावीर के संदर्भ से उन्होंने कहा कि तुम प्रत्येक विचार पर चिंतन करो और सोचो यह किस 'नय' की अपेक्षा में सही है। यह मत सोचो कि यह गलत है। गलत कहने से पहले इस बात पर विचार करो—यह किस 'नय' की अपेक्षा से सही हो सकता है। हम खंड को जानते हैं, पर हमारा लक्ष्य होना चाहिए—अखंड को जानना। जो व्यक्ति खंड में उलझ जाता है, उसका व्यक्तित्व भी खंडित हो जाता है। यह जो समग्रता का दृष्टिकोण है, वह तुलनात्मक अध्ययन का दृष्टिकोण है। सबका दृष्टिकोण जानें और समझें—यही तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य है। यही सत्य को समझने की कसौटी है।

निष्पक्ष आंख

एक आदमी ने एक किताब लिखी—तेरह के आंकड़े पर। पश्चिम में तेरह का आंकड़ा बुरा समझा जाता है। बड़े होटलों में तेरहवीं मंजिल नहीं होती, बारह के बाद सीधी चौदहवीं। तेरह नंबर का कमरा नहीं होता। तेरह तारीख को यात्रा के लिए बुरा माना जाता है। उस आदमी ने किताब लिखी, जिसमें वे सारे आंकड़े इकट्ठे किए, जिनसे पता लगता है कि तेरह का आंकड़ा वाकई खतरनाक है। तेरह तारीख को कितने युद्ध शुरू हुए, कितनी कार दुर्घटनाएं होती हैं, कितने लोग कैंसर या किसी अन्य रोग से मरते हैं, कितने तलाक होते हैं, कितने तेरहवीं मंजिल से गिरते हैं—ऐसे अनेक आंकड़े एकत्रित किए। तथ्यों के आधार पर सिद्ध हुआ कि तेरह का आंकड़ा खतरनाक है। परंतु किसी अन्य तारीख से जुड़े ये तथ्य एकत्रित करना चाहें, तो उसके भी ऐसे ही मिल जाएंगे। जो भी व्यक्ति सत्य को जानना चाहे—तो अपना कोई पक्ष पहले तय न करे, तभी सत्य का पता लग सकता है। सत्य के खोजी की कोई मान्यता नहीं होनी चाहिए। आंख खुली हो, निष्पक्ष हो, निर्दोष हो—तभी सत्य का दर्शन हो सकता है।

सत्य के लिए मैत्रीभाव

गीता के चौथे अध्याय में ही श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि यही वह पुरातन योग, मैंने तेरे लिए वर्णन किया है, क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है। उन्होंने यह तो कहा ही है कि सत्य नया नहीं है, कुछ अपनी ओर से नहीं है। उसमें कुछ जोड़ने का उपाय भी नहीं है, पर अब नई बात यह कही है कि तुझे इसलिए कह रहा हूं कि तू मेरा सखा है, मेरा मित्र है, मेरा प्रिय है। यों यह बात अजीब-सी लगेगी कि क्या श्रीकृष्ण अन्यों को सत्य नहीं कहेंगे। परंतु, बात बड़े पते की है, क्योंकि सत्य को जानने की, सत्य को समझने की तैयारी मैत्रीभाव में ही संभव है। श्रीकृष्ण सभी को बताने को राजी हैं, पर जो मैत्रीभाव से भरा न हो तो कान तो सुन लेंगे, पर बात वहीं रुक जाएगी—उसका द्वार बंद रहेगा, प्रकाश अंदर जा ही नहीं पाएगा। एक भरोसा यदि बीच में न हो तो सत्य की बात कही तो जा सकती है, पर सुनी नहीं जा सकती। श्रीकृष्ण सत्य के लिए एक बड़ा सूत्र दे रहे हैं।

अर्जुन को यह बात वे बार-बार कहते हैं और याद दिलाते रहते हैं कि तू मेरा मित्र है, सखा है। कई बार ऐसा होता है कि चीजें विस्मृत हो जाती हैं। अर्जुन के साथ भी ऐसा न हो जाए, अतः आंतरिकता जगाने के लिए वे ऐसा कर रहे हैं। ताकि चेतना का तल बदल जाए। जब सत्य को समझना हो, जानना हो, छलांग लगानी हो तो मैत्रीभाव के बिना संभव नहीं होता।

स्वयं की खोज

मुंडकोपनिषद् में कहा है—'सत्यं एव जयते नानृतम्'—अर्थात् सत्य जीतता है, असत्य नहीं। चाहे भारत सरकार ने अपना ध्येय वाक्य 'सत्यमेव जयते' माना है, पर सत्य की विजय राजनीति में नहीं होती, क्योंकि राजनीति बहिर्यात्रा है। इसका प्रयोजन है—दूसरे पर विजय पाना। दूसरे पर विजय पाने से सत्य को क्या प्रयोजन। हां,

अंतर्यात्रा के जगत् में, भीतर के जगत् में यह सूत्र जरूर सत्य है। वहां सत्य ही जीतता है। असत्य तो वह है जो है नहीं और जो है नहीं, वह जीत कैसे सकता है। जिस दिन राजनीति में सत्य जीतने लगे तो फिर यह धर्म की, अध्यात्म की शुद्ध नीति हो जाएगी। फिर सुशासन में कुछ शेष नहीं रहेगा, पर आज के परिप्रेक्ष्य में इसकी कोई संभावना नहीं है। भीतर के क्षेत्र में सत्य ही जीतता है। हम सभी जानते हैं कि जब प्रकाश नहीं होता है तब ही अंधेरा होता है। यदि प्रकाश आ जाए तो अंधेरे की उपस्थिति स्वतः ही समाप्त हो जाती है। ऐसा ही सत्य व असत्य का संबंध है। सत्य आ जाए तो असत्य तत्क्षण तिरोहित हो जाता है। अतः अब महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सत्य आए कैसे? दीया जले कैसे? साधारणतः लोग कहते हैं, असत्य को त्यागो, उसे भगाओ, उससे लड़ो। अंधेरा हटाने के लिए उसे भगाना नहीं पड़ता, उससे लड़ना नहीं पड़ता—मात्र दीपक की उपस्थिति से ही उसका अभाव हो जाता है। असत्य नहीं रहे, इसका एकमात्र उपाय यही हो सकता है कि दीपक की तरह सत्य का प्रकाश हो जाए। कुछ करना है तो प्रकाश के साथ ही करना पड़ेगा। मूल बात है—भीतर प्रकाश जगाने की और उसका सीधा उपाय है ध्यान। शास्त्रों से नहीं, भीतर के मौन और शून्यता से सत्य उतरता है। प्रेक्षाध्यान, विपश्यना, कायोत्सर्ग इसमें सहायक हो सकते हैं। यहां एक दूसरे संपादकीय में उत्तराध्ययन की दी हुई सूक्ति—'अप्पणा सच्चं मेसेज्जा'—अपनी स्वयं की आत्मा के द्वारा सत्य का अनुसंधान करो, स्वयं सत्य खोजो—बहुत काम की है। सत्य प्रत्येक को स्वयं ही खोजना पड़ता है, यह उधार नहीं मिलता। यह स्थानांतरित होने वाली वस्तु नहीं है, जो कोई किसी को दे दे। हां, असत्य दूसरों से मिल सकता है, पर सत्य तो स्वयं ही खोजना पड़ता है। सत्य की उपलब्धि ही जीवन का रूपांतरण है। ❖

भारतीय विचारधारा की सामान्य विशेषताएं पृष्ठ 18 का शेष

कहानी, जो संसार को दुख से मुक्त कराने का प्रयत्न करता है; ईसा को मनुष्य का बेटा मानने का विचार;—ये सब इस बात की ओर निर्देश करते हैं कि पश्चिमी देशों में मनुष्य के ऊपर ही अधिक ध्यान दिया गया है। यह सत्य है कि ईसा को ईश्वर का बेटा भी बतलाया गया है, सबसे बड़ा बेटा, जिसके बलिदान का विधान न्यायकारी ईश्वर का क्रोध शांत करने के लिए बतलाया गया है। हमारा लक्ष्य यहां यह है कि पश्चिमी संस्कृति की मुख्य प्रवृत्ति मनुष्य और ईश्वर के मध्य विरोध की ओर अधिक है। उस संस्कृति में मनुष्य ईश्वर की शक्ति का मुकाबला करता है, मनुष्य-जाति के हितों के लिए उसके पास से आग चुराता है। भारत में मनुष्य ईश्वर द्वारा निर्मित वस्तु है। समस्त विश्व ईश्वर के तप के कारण है। पुरुषसूक्त में एक ऐसे निरंतर क्रियमाण यज्ञ का वर्णन है जो मनुष्य एवं जगत् को धारण करता है।[2] इसी के अंदर समस्त विश्व चित्रित है, जो एकमात्र अतुलनीय विस्तार और महानता से युक्त है, जिसमें एक वही सत्ता जीवन फूंकती है और जो अपने अंदर जीवन की सब अवस्थाओं के सारतत्त्व को धारण किए हुए है।

भारतीय विचारधारा का सर्वोपरि स्वरूप, जिसने इसकी समग्र संस्कृति को ओतप्रोत कर रखा है और जिसने इसके सब चिंतकों को एक विशेष प्रकार का ढांचा प्रदान किया है, इसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। आध्यात्मिक अनुभव भारत के संपन्न सांस्कृतिक इतिहास की आधारभित्ति है। यह रहस्यवाद है; इन अर्थों में नहीं कि इसमें कोई अलौकिक शक्ति वर्तमान है, किंतु केवल मनुष्य-प्रकृति के नियंत्रणपरक के रूप में जिससे आध्यात्मिक ज्ञान का साक्षात्कार होता है। जहां यहूदियों और ईसाइयों के पवित्र ग्रंथ अधिकतर धार्मिक और नीतिपरक हैं, वहां हिंदुओं के ग्रंथ अधिकतर आध्यात्मिक और ध्यानपरक हैं। भारत में जीवन का एकमात्र ध्येय ब्रह्म के नित्य सत्ता-स्वरूप को जानना है। ❖

क्रमशः अगले अंक में जारी

संदर्भ सूची

1. सांख्यदर्शन में हमें लगभग ठीक इसी प्रकार की, आनुभविक जगत् की व्याख्या मिलती है, जिससे केवल निर्गुण साक्षी ब्रह्म में किसी प्रकार का दोष नहीं आता। केवल अनेकात्मवाद का पक्षपात, जिसका आधार तर्कसंगत नहीं है, अपने-आप को बलपूर्वक उपस्थित करता है; और हमारे आगे जीवात्माओं की अनेकता एक समस्या के रूप में है। जब अनेकात्मपक्ष सर्वथा गिर जाता है जिसका तर्क के प्रारंभ में ही गिर जाना अवश्यंभावी है, तब सांख्य के सिद्धांत की विशुद्ध वेदांत के सिद्धांत के साथ एकरूपता स्वयं प्रकट हो जाती है।
2. ऋग्वेद, 10:90; और भी देखें, ऋग्वेद, 10:81, 3; श्वेताश्वतर उप. 3—3; भगवद्गीता 11। ❖❖

मनुष्य प्रतिदिन ज्ञाता-द्रष्टा भाव से विचारों को देखना सीख जाए—वह अच्छे विचारों को भी देखे और बुरे विचारों को भी। फिर वह उन विचारों में काट-छांट करे कि कौन-से विचार उसके लिए आवश्यक हैं और कौन-से विचार अनावश्यक। व्यक्ति की यह विवेक-बुद्धि ही हेय विचारों को छोड़ने वाली और उपादेय विचारों को अपनाने वाली सिद्ध होगी। यह है सम्यक् विचार और यही है सकारात्मक विचारों का विकास। विचार अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी। सकारात्मक भी हो सकते हैं और नकारात्मक भी। यदि मनुष्य बुरे विचारों को अच्छे विचारों में बदलना सीख जाए, नकारात्मक विचारों को सकारात्मक विचारों में रूपांतरित करना सीख जाए, तो समस्याओं को काफी हद तक समाहित कर सकता है।

स्वस्थ जीवन-शैली के चार सूत्र

मुनि जयंतकुमार ❑

जीवन की सफलता की कुंजी आरोग्य में निहित है। ऋषि-महर्षियों ने कहा है—'पहला सुख निरोगी काया।' दुनिया में सुख के अनेक साधन हो सकते हैं, किंतु पहला सुख शरीर का निरोग होना है। शरीर स्वस्थ है तो व्यक्ति धर्म-कर्म आदि सभी प्रवृत्तियों में भलीभांति प्रवृत्त हो सकता है। यदि स्वस्थ नहीं है, तो वह कोई भी कार्य प्रसन्नतापूर्वक संपन्न नहीं कर सकता और न ही वह चित्तसमाधि को प्राप्त कर सकता है। आरोग्य का संबंध बोधि और समाधि—दोनों से है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य की मंगलकामना सर्वप्रथम अपने स्वास्थ्य के प्रति ही होती है। व्याधि, आधि और उपाधि—ये तीन स्वास्थ्य के शत्रु हैं। उनसे बचना तथा उनका निराकरण करना ही शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्वस्थता को प्राप्त करना है। भारतीय वाङ्मय में कहा गया—'सर्वे भवंतु निरामयाः'—सभी प्राणी निरोग और स्वस्थ हों। अस्वास्थ्य मनुष्य को केवल रुग्ण ही नहीं करता, निराश भी करता है। कभी-कभी व्यक्ति अपनी बीमारी के कारण 'डिप्रेशन' में चला जाता है और 'डिप्रेशन' उसकी जीवन-लीला को समाप्त करने का एक निमित्त भी बन जाता है।

जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है—सुख और शांति। उसके लिए आरोग्य, बोधि और समाधि—इस त्रिपदी की उपलब्धि होनी चाहिए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने स्वस्थ जीवन-यापन के लिए स्वस्थ जीवन-शैली के चार सूत्रों का प्रतिपादन किया है।

सम्यक् श्वास

श्वास लेना और श्वास छोड़ना एक शारीरिक क्रिया है। उसके बिना जीवन का रथ नहीं चल सकता। श्वास की अनिवार्यता और महत्ता को जानते हुए भी व्यक्ति अपने श्वास के प्रति बे-भान और लापरवाह है। संत कबीर ने इस लापरवाही का बहुत ही सटीक शब्दों में चित्रण किया है—

रहिमन पास गरीब के, को आवत को जात।
एक बेचारो श्वास है, आत जात दिन रात।।

श्वास लेना एक बात है, किंतु सम्यक् श्वास लेना अलग बात है। सम्यक् श्वास लेने का अर्थ है—श्वास का दीर्घीकरण। जब श्वास लंबा लिया जाता है तो पेट फूलता है। जब श्वास छोड़ा जाता है तब पेट सिकुड़ता है। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य का श्वास जितना लंबा होगा उतना ही प्राणवायु का ग्रहण अधिक होगा। उससे कार्बन डाई-ऑक्साइड का निस्सरण, फेफड़ों की सफाई और आमाशय की सफाई होती है। श्वास जितना छोटा होगा प्राणवायु उतनी ही शरीर में कम प्रविष्ट होगी। शरीर को जो लाभ मिलना चाहिए, वह लाभ नहीं मिल सकेगा। मनुष्य जिस श्वास से चिर-परिचित है, जिसके साथ वह दिन-रात

जीता है—उसकी उपेक्षा करना न्यायसंगत नहीं है। फिर भी मनुष्य वही करता है, यह उसके अज्ञान का सूचक है।

दीर्घश्वास का दूसरा वैज्ञानिक पहलू है—अपने आवेगों-संवेगों का नियंत्रण। आवेग और संवेग का संबंध श्वास के साथ जुड़ा हुआ है। श्वास जितना छोटा होगा, उतनी ही आवेग-संवेग की प्रबलता होगी। श्वास जितना लंबा होगा, उतना ही अधिक कषायों का अल्पीकरण होगा। किसी व्यक्ति को अधिक गुस्सा आता है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसका श्वास छोटा है। छोटा श्वास होने का अर्थ है—श्वास की संख्या का अधिक होना। यदि व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक श्वास के दीर्घीकरण का अभ्यास साध लेता है तो गुस्सा भी स्वतः शांत हो जाता है। ध्यान की एकाग्रता तथा कषाय-उपशमन के लिए श्वास का लंबा होना, मंद होना तथा उसकी संख्या में कमी होना अत्यावश्यक है।

एक छोटा बालक जितना अच्छा श्वास ले सकता है, शायद उतना अच्छा श्वास तरुण अथवा बुजुर्ग व्यक्ति नहीं ले सकता। इसलिए बच्चे का जीवन निश्चिंत तथा तनावमुक्त होता है। वह सुख की नींद लेने वाला होता है। श्वास का शरीर के रसायनों और नाड़ीतंत्र के साथ भी गहरा संबंध है। श्वास जितना सम्यक् होगा, उतना ही उसका नाड़ीतंत्र स्वस्थ होगा, रसायनों का स्राव सम्यक् होगा। निष्कर्ष की भाषा में यही कहा जा सकता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति सम्यक् श्वास लेने का अभ्यास करे तो वह काफी हद तक शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक समस्याओं से मुक्त हो सकता है, अपनी जीवन-शैली को स्वस्थ रख सकता है। स्वस्थ जीवन जीने का पहला पाठ है—सम्यक् श्वास। वह मन की चंचलता को मिटाने का सशक्त माध्यम है।

सम्यक् आहार

आहार जीवन की नितांत अपेक्षा है। उसके बिना अधिक समय तक जीवन नहीं चल सकता। आहार करने के मुख्यतया दो उद्देश्य हैं—प्रथम उद्देश्य है जीवन की यात्रा को सम्यक् रूप से चलाना। दूसरा उद्देश्य है शरीर को स्वस्थ रखना। आहार किसके लिए—जीभ के लिए अथवा स्वास्थ्य के लिए—यह एक प्रश्न है। जीभ के लिए किया जाने वाला भोजन केवल जीभ को ही तृप्त कर सकता है, स्वास्थ्य नहीं दे सकता। केवल जीभ को तृप्त करने वाले लोग स्वादिष्ट, सुस्वादु, नमकीन, चटपटे तथा मिर्च-मसालेदार भोजन को ही ज्यादा पसंद करते हैं। उनकी दृष्टि में सुपाच्य तथा पथ्यकारक भोजन का महत्त्व नहीं होता। जीभ के लिए पथ्यापथ्य का विवेक गौण हो जाता है। आयुर्वेद के किसी आचार्य से पूछा गया कि स्वस्थ कौन? उत्तर मिला—हितकर, मितकर और ऋतकर भोजन लेने वाला स्वस्थ होता है। आज के युग में हितकर भोजन मिलना दुर्लभ है और वैसे भोजन को ग्रहण करने वाले भी दुर्लभ हैं। दोनों ओर दुर्लभता ही दुर्लभता है। उनमें सुलभता को खोजना भी एक समस्या है। परिमित भोजन स्वस्थता का लक्षण हो सकता है। पर आज की संस्कृति में वह भी मजाक का विषय बन रहा है। खाएं भी और वह भी परिमित मात्रा में खाएं—यह कैसे हो सकता है? स्वादिष्ट भोजन देखते ही मुंह से लार टपकने लगती है। न चाहते हुए भी अधिक खा लिया जाता है। वहां परिमित खाने की बात गौण हो जाती है और स्वादु भोजन की बात प्रधान बन जाती है। इसी के आधार पर लोक-मानस में एक धारणा भी बन गई—'जीवन तो फिर भी मिल सकता है, पर स्वादिष्ट भोजन बार-बार नहीं मिलता। बिना खाए भी मरे और खाकर भी मरे तो क्या फर्क पड़ने वाला है।'

पशुओं की तरह भोजन करने वाले व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे। पशु कभी भी स्वादिष्ट भोजन देखकर नहीं खाता। वह तो मात्र भूख मिटाने के लिए अथवा पेट भरने के लिए खाता है। मनुष्य की क्रिया सर्वथा पशु से विपरीत होती है। वह संयम-साधना के लिए नहीं खाता, स्वाद और पेटूपन के लिए खाता है। इसलिए वह बीमार भी अधिक होता है। इस दुनिया में डाक्टर के हाथों मरने वाले लोग बहुत कम हैं। ज्यादातर अपथ्यकारक तथा मात्रा से अधिक खाकर मरने वाले लोग हैं। भोजन की परिमितता के साथ-साथ भोजन का सात्त्विक होना भी अनिवार्य है। तामसिक-राजसिक भोजन मन को विकृत करता है, इंद्रियों को उद्वेलित करता है। इसलिए कहा गया—'जैसा खाए अन्न, वैसा होए मन।' इंद्रियों और मन की स्वस्थता के लिए तामसिक भोजन का परिहार करना अत्यंत आवश्यक है। भोजन कैसे करें—इसके समाधान में कहा गया—जब चित्त शांत-प्रसन्न हो, इंद्रियां अनुद्विग्न हो, मन में क्रोध, ईर्ष्या, मत्सर आदि का भाव न हो, कहीं भी उतावलापन न हो—उस स्थिति में भोजन लेना, उसे चबा-चबा कर खाना तथा भूख से कम खाना ही स्वास्थ्यप्रद होता है। जिन व्यक्तियों को मस्तिष्क से काम लेना है, कोई बड़ा कार्य करना है तो उन्हें विशेष रूप से भोजन के प्रति अत्यधिक जागरूक रहना होगा। इसका जीवंत उदाहरण हैं—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी।

आचार्य महाप्रज्ञ 85-86 वर्ष की अवस्था में भी प्रतिदिन 15-16 घंटे कार्य में व्यस्त रहते हैं। इसका कारण है अपने भोजन और जीवन-शैली के प्रति उनकी जागरूकता।

भोजन कब किया जाए, यह सबके लिए समयबद्ध नहीं हो सकता। सबके लिए भोजन करने का अलग-अलग समय होता है। फिर भी जब अच्छी भूख लगे, पाचन तंत्र ठीक काम करता हो तब ही भोजन ग्रहण करना उत्तम होता है। इसी आधार पर एक कहावत प्रचलित हो गई—'भूख बड़ी कि लापसी', भूख लगने पर सूखी रोटी भी स्वादिष्ट लगती है, अन्यथा लापसी भी रुचिकर नहीं लगती। बिना भूख के कुछ खाना स्वास्थ्य को बिगाड़ने के सिवाय और अधिक कुछ नहीं है।

स्वास्थ्य के साथ तीसरी बात जुड़ी है—ऋत्कर भोजन। न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ से स्वयं का पोषण करना बड़ा कठिन कार्य है। अनैतिक तरीके से अर्जित धन से बना हुआ भोजन स्वास्थ्य को बिगाड़ता है या नहीं, किंतु मन को अवश्य बिगाड़ देता है। जो कमाई खून और पसीने की कमाई होती है, उसका प्रभाव मन को विकृत बनाने वाला नहीं होता, जबकि शोषण और क्रूरता से अर्जित धन मन को विचलित करने वाला होता है। इसलिए स्वास्थ्य के लिए सम्यक् आहार की आवश्यकता है और जो भोजन हितकर, मितकर और ऋत्कर होता है—वही भोजन सम्यक् होता है। स्वस्थ जीवनयापन के लिए भोजन में तीनों ही प्रकार आवश्यक हैं।

सम्यक् विचार

मनुष्य कल्पना की पांखों से उड़ता है और विचारों के पैरों से चलता है। विचार का तात्पर्य है—गतिशीलता। जो गतिशील होता है, वह सब विचार नहीं होता, किंतु विचार अवश्य गतिशील होता है। विचार में बहुत बड़ी शक्ति होती है। विचारों के द्वारा ही व्यक्ति अपना व्यक्तिगत चिंतन वाणी के माध्यम से प्रकट करता है और साहित्य के माध्यम से अपने विचारों को दूसरों तक पहुंचाता है। विचारों का जितना मूल्य है, उससे अधिक मूल्य है निर्विचारता का। भले व्यक्ति निर्विचार की स्थिति तक न भी पहुंच पाए, किंतु वह सम्यक् विचारों में रहने का प्रयत्न करे तो जीवन में वह बहुत बड़ी उपलब्धि पा सकता है। विचार अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी। सकारात्मक भी हो सकते हैं और नकारात्मक भी। यदि मनुष्य बुरे विचारों को अच्छे विचारों में बदलना सीख जाए, नकारात्मक विचारों को सकारात्मक विचारों में रूपांतरित करना सीख जाए, तो समस्याओं को काफी हद तक समाहित कर सकता है। विचारों का संबंध मन से है। मन प्रतिपल विचारों को उत्पन्न करता रहता है।

यदि व्यक्ति मन को प्रशिक्षित कर ले, उसे ध्यान के द्वारा अमन बना दे, तो बुरे विचार मनुष्य को नहीं सताएंगे। मनुष्य प्रतिदिन ज्ञाता-द्रष्टा भाव से विचारों को देखना सीख जाए—वह अच्छे विचारों को भी देखे और बुरे विचारों को भी। फिर वह उन विचारों में काट-छांट करे कि कौन-से विचार उसके लिए आवश्यक हैं और कौन-से विचार अनावश्यक। व्यक्ति की यह विवेक-बुद्धि ही हेय विचारों को छोड़ने वाली और उपादेय विचारों को अपनाने वाली सिद्ध होगी। यह है सम्यक् विचार और यही है सकारात्मक विचारों का विकास।

सम्यक् भाव

जीवन विज्ञान का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जैसा भाव वैसा स्राव, जैसा स्राव वैसा स्वभाव, जैसा स्वभाव वैसा व्यवहार। व्यवहार मनुष्य के अंतर्भावों का प्रतिबिंब है। व्यवहार के आधार पर ही मनुष्य के अच्छे-बुरे भावों को जाना जा सकता है। व्यवहार एक प्रकार से गंगोत्री का जल है और भाव उसका मूल स्रोत है। गंगोत्री का जल तब तक शुद्ध नहीं हो सकता, जब तक उसका मूल स्रोत शुद्ध नहीं होता। भावों का संबंध भावतंत्र से है। भावशुद्धि के लिए मनुष्य को भावतंत्र तक पहुंचना होगा। व्यक्ति को केवल अपना मुखौटा बदलने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है—भीतर के रसायनों को बदलने की। जैसे रसायन होते हैं, वैसे ही भाव बनते हैं और जैसे भाव होते हैं, वैसे ही रसायन होते हैं—निरंतर एक चक्र चलता रहता है। मनुष्य चाहता है कि मेरे भाव सदा शुद्ध बने रहें, सम्यक् बने रहें, मन में कोई अशुद्ध भाव ही न आए। अशुद्ध भावों के परिवर्तन के लिए मनुष्य वह सब-कुछ कर सकता है। उसके लिए आवश्यकता है शक्तिसंपन्नता की। मनुष्य के पास शरीर की शक्ति, मन की शक्ति और भावना की शक्ति है। भावपरिवर्तन के लिए मन की शक्ति का होना अधिक अपेक्षित है। मन की शक्ति के बाधक तत्त्व हैं—भय, क्रोध, शोक, चिंता आदि। जब व्यक्ति इन प्रवृत्तियों से ग्रस्त होता है तब उसका मनोबल भी टूटता है। यदि वृत्तियों का परिष्कार हो जाए तो स्वतः ही मनोबल बढ़ेगा और मनोबल शुद्ध भावों को अवकाश देगा। यदि व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों और सुख-सुविधाओं में अपने-आप को साध ले, तो वह अशुद्ध भावों को रोकने में सक्षम हो

सकता है। सहिष्णुता की शक्ति शुद्ध भावों का निर्माण करती है। निरंतर अभ्यास और ध्यान-साधना के द्वारा सम्यक् भावों को पुष्ट किया जा सकता है। यदि भाव सम्यक् हो जाते हैं तो हमारा स्वभाव और व्यवहार भी संतुलित हो जाएगा।

उपरोक्त बिंदुओं के आधार पर व्यक्ति अपने-आप में स्वस्थ बन सकता है, वह जीने की कला सीख सकता है। सफलता को हस्तगत करने के लिए जीवन में सम्यक् श्वास, सम्यक् आहार, सम्यक् विचार और सम्यक् भाव—इन चारों की समन्विति का होना बहुत आवश्यक है। यदि ऐसा होता है तो एक नए व्यक्ति और एक नए समाज का अभ्युदय हो सकता है। जीवन समुन्नत और शक्तिमय बन सकता है, फिर समस्याएं हमारी परिक्रमा अवश्य करें, पर सताएंगी नहीं। तब हम उस लोक में विहरण करेंगे, जहां हमें शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और भावनात्मक स्वास्थ्य प्राप्त होगा। जिसका अन्यत्र प्राप्त होना दुर्लभ होता है। यही जीने की कला और यही है स्वास्थ्य को पाने की कला। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

‘उसने ढेरोंढेर चेहरे देखे थे, पता नहीं किन-किन शहरों में, किन-किन सड़कों पर, किन-किन रेलों, बसों, घरों में। बुआ के देखे चेहरों की गिनती आसानी से लगाई जा सकती थी। बुआ के गांव का हर आदमी एक-दूसरे को रोज देखता था बल्कि एकाधिक बार देखता था। पैदल पहुंच के गांवों में लोगों का आना-जाना कभी किसी वजह से तो कभी बेवजह ही हो जाता। मीत घर के गांव के हर घर में बुआ कई-कई बार बता चुकी थीं कि वे जीवन में दो-दो बार भोपाल जा चुकी थीं। ‘बड़े मुड़ियन मां कोठी बनादे के लाने’।’

दृश्य से बाहर

ज्योत्स्ना मिलन ❑

होने को वह एक दृश्य था और कहीं का भी हो सकता था। दृश्य में गेहूं का खेत था, आसमान था, पहाड़ियां थीं, पेड़ थे। कुछ दूर थे कुछ आस-पास। और ये सब कहीं भी हो सकते थे एक साथ—चाहे इनकी जगहें आपस में बदली हुई हों। हो सकता है इस दृश्य का पहाड़ की तलहटी में खड़ा पेड़ दूसरे दृश्य के खेत में पहुंच कर अपनी ऊंचाई गंवा बैठे और ठीक उसी तरह पहाड़ भी पेड़ से दूर होकर।

कुछ दूर तक ऊपर उठने के बाद पहाड़, पेड़ के पीछे छिप गया।

पहाड़ कि पेड़?

क्या पता पेड़ हो?

कुछ भी हो सकता है, पेड़ पहाड़ हो सकता है और पहाड़ घर।

वह पेड़ इस इलाके की सबसे ऊंची वस्तु था और इलाके की हर चीज को उससे नापा जा सकता था। पेड़ का रंग काई के रंग की तरह ठोस हरा था। बाकी पेड़ छोटे और पारदर्शी हरे थे। सिरे तक फैला गेहूं का खेत सुनहरा था और धरती से उगी असंख्य छोटी-छोटी लपटों की तरह दिखाई दे रहा था।

तलहटी में दो-तीन घर थे। पेड़नुमा घर या घरनुमा पेड़। कभी घर, कभी पेड़। जब चाहो घर, जब चाहो पेड़।

दरअसल तो खेत ही नहीं, पहाड़, घर, पेड़, आसमान सब-कुछ लपटों की शक्ल में था। काई रंग के लंबे पेड़ की आसमान में पहुंची फुनगी, दृश्य की सबसे ऊंची लपट थी और वह तय नहीं कर पा रही थी कि वह पेड़ था या पहाड़ की तलहटी से उठी लपट?

पहाड़ियों का कद घटा देने वाली होली उसने पहली बार देखी थी। उसकी तड़तड़ा कर ऊपर और ऊपर उठती लपटों के बीच अंधेरे खोखल थे। उन्हीं से निकल-निकल कर लपटों ने पेड़ का रूप धर लिया था। बाकी का सब-कुछ उस पेड़ के आस-पास था जैसे सारा-कुछ उसी की वजह से हो। वह था और बाकी सब-कुछ भी था।

दृश्य में पानी किसी भी रूप में नहीं था, न तालाब, न कुआं, न नदी, न झिरी, न समुद्र, कुछ भी नहीं। आस-पास में सफेद बादल थे। उनमें या उनके इर्द-गिर्द भी कहीं पानी के होने की कोई संभावना नहीं थी।

छोटे-छोटे पेड़ों के पारदर्शी हरे में पानी को कुछ-कुछ पहचाना जा सकता था।

दृश्य में हवा थी और पूरे दृश्य को लपट में बदल रही थी।

पेड़ों के भीतर की आभा पेड़ों की हरी सतह पर चली आई थी, पड़ाहों की आभा पहाड़ों की नीली सतह पर और धरती की धरती की सुनहरी सतह पर।

दृश्य में जैसे पानी नहीं था, आदमी, जानवर, पक्षी भी नहीं थे। वे अगर होते तो वे भी लपटों की शक्ल में होते।

यह दृश्य जो हो तो कहीं का भी सकता था, था एक निश्चित जगह का।

कहीं का भी हो, वह एक दृश्य था और दृश्य में हर चीज हो रही थी, जैसे अपने-आप हो रही हो। न किसी दूसरे की इच्छा से, न अपनी इच्छा से।

पानी, आदमी, जानवर, पक्षी की तरह वह भी दृश्य से बाहर थी। अचरज अगर उसे था तो अभी तक खुद अपने दृश्य से बाहर होने पर था।

हवा अगर चाहे तो उसे दृश्य में शामिल कर ले सकती है और चाहे तो सब-कुछ को दृश्य से बाहर धकेल दे सकती है।

वह चाहती थी दृश्य में का सब-कुछ बना रहे।

हवा के अलावा उसे दृश्य में शामिल करने का काम राशु भी कर सकता था।

दृश्य में अगर रेल होती तो रेल की खिड़कियों पर आमने-सामने बैठे वह और राशु एक-साथ दृश्य में शामिल हो जा सकते थे। इस दृश्य में रेल होती तो वह मीलों दूर तक फैले खेतों के आगे नहीं हो सकती थी या फिर खेत इतने फैले नहीं हो सकते थे। अगर रेल आगे होती और खेत भागती हुई रेल के पीछे होते तो खेत खिड़की के आकार के भागते हुए टुकड़े होते।

मीलों के विस्तार में फैले हुए खेतों के पीछे कहीं हो सकती थी लकीर-सी रेंगती रेल और अपनी धुएं की कलगी से पहचानी जा सकती थी। लपट की तरह उड़ती जगमग रेल भागी चली जाती, रात के अंधे सुराख से।

चित्र के दृश्य में हालांकि दिन था और वहां शाश्वत काल तक दिन ही हो सकता था मतलब यह कि रेल के साथ-साथ उसे और राशु को दृश्य में शामिल होना हो तो दृश्य में रात का होना जरूरी था।

चित्र में सिर्फ दिन हो सकता था और वही का वही दृश्य भी। भागती हुई रेल में लगातार बदलता रह सकता था दृश्य, दिन और मौसम। इसीलिए दृश्य में हो-न-हो, रेल में समय रात का हो सकता था। रेल की उस रात में राशु और वह अपनी-अपनी खिड़कियों समेत आमने-सामने हो सकते थे।

रात के खोखल में धड़् धड़् धड़्.....धड़् धड़् धड़् की हर किसी को सुनाई देने वाली और रेल की रफ्तार से दौड़ने वाली आवाज भी उसे अपने-आप नहीं सुनाई दे रही थी, जब तक कि वह खुद ठान कर न सुने। सुनाई उसे राशु की ही आवाज दे रही थी या अपनी। चेहरा उसे अपना दिखाई नहीं दे रहा था, कभी भी दिखाई नहीं देता था, आगे भी उसके दिखाई देने की कोई संभावना नहीं थी। इस बात की ओर उसका ध्यान सिरे से गया ही नहीं था जबकि एक चेहरे की तरह वह किसी-न-किसी को अवश्य ही याद आती होगी। आईने में दिखाई देने वाला अपना चेहरा उसे सदा किसी दूसरे का लगता। यह भी एक वजह हो सकती है, उसे अपने चेहरे की याद न आने की। अपनी आवाज उसे सुनाई तो देती थी मगर लगती किसी दूसरे की थी। उसे बिल्कुल भी भरोसा नहीं था कि अपनी आवाज उसे, ठीक उसी तरह, खट् से पहचान में आ जाएगी जैसे फोन के उस पार से आने वाली राशु की आवाज आ जाती थी।

उस समय राशु उसके लिए महज एक आवाज की तरह था। क्रिकेट की गेंद के साथ दौड़ती निनाद मेहता की आवाज से उसकी आवाज एकदम उलट थी। उसकी आवाज को किसी भी स्थिति में दौड़ा पाना असंभव था। भागती हुई रेल की धड़्-धड़् में वह एक लगभग ठहरी हुई आवाज की तरह था।

—'परसों तो मुझे दो बार सुलतानपुर जाना पड़ गया।' उसने बताया था।

गांव में बैंक और काम-धंधा संबंधित काम एक-न-एक तो रोज ही निकल आता। वह जब भी कहता सुलतानपुर गया था, वह पूछती क्या काम था? हो गया? सुलतानपुर वह काम से ही जाता। कुल जमा दो ही जगहें ऐसी थीं जहां वह बिना किसी काम के आता-जाता था, एक तो उसका घर और दूसरा धुनवानी गांव।

जब भी वह मिलता, वह पूछती इस बीच क्या-क्या हुआ? क्या-क्या किया? कौन-कौन मिला? किससे क्या बातें हुईं? जब वह उसके पास या आस-पास नहीं था, कहां था? किस-किसके साथ? वह सदा जानना चाहती। रेल में तो वह रात-भर पूछती रह सकती थी और वह रात-भर बताता।

'पिछले हफ्ते धुनवानी गया था', राशु बताता तो वह कभी नहीं पूछती कि कुछ काम था? तब पूछती नानी कैसी है? बुआ क्या कह रही थीं? चेता का क्या चल रहा है? रेशम के कीड़े पाल रहा है? शहतूत के पेड़ तो अब काफी बड़े हो गए होंगे? और? वहां के बच्चे रोज नहाने लगे अब?

कहते तो हैं कि रोज नहाते हैं और रोज पढ़ते हैं। मैं जब भी धुनवानी जाता हूं तो एक-न-एक बार जरूर पहुंचता हूं कुएं पर और मेरे साथ गांव के बच्चे भी। रोज होता हो, न होता हो उस एक दिन जरूर हो जाता है उनका नहाना।

पहले-पहल जब वह इस गांव में पहुंचा, उसी क्षण उसकी समझ में आ गया था कि वह कौन-सा काम है, जो उसे करना है। वह वहीं रह गया। उसका घर विद्यालय में बदल गया और जमीन स्लेट में। जमीन पर उंगली से या नुकीले पत्थर से अक्षर उभरने लगे, पहचाने और घोटे जाने लगे।

राशु के धुनवानी जाने का मतलब था कभी बुआ के यहां तो कभी नानी के यहां तो कभी समरू के यहां। वह जिस घर में रुक जाता, बीस घर वाले पूरे गांव के लोग उस घर के आस-पास घिर आते। वह उठ कर चलना शुरू करता तो लोग उठ कर चलना शुरू कर देते, किसी दूसरे घर की ओर। घर-घर में ओसारा था। किसी में दो खंभे अधिक तो किसी में दो कम। जिस घर में खाने का समय होता, खाना होता, सोने का समय होता, सोना होता। चाय-पानी और सुपारी हर घर में हो जाते।

राशु जब भी अपने धुनवानी जाने की बात बताता, वह जरूर पूछती—बुआ तो मिली होंगी? क्या कह रही थीं? जबकि वह पिछले पांच सालों से नहीं गई थी धुनवानी। आखिरी बार जब गई थी तो सुबह ढलने से पहले ही उठ आई थी कि चलें अब। सड़क तक पहुंचे तो देखा कि लौटने वाली सड़क पर दुर्गा, लक्ष्मी, शांति, श्यामा ने एक-दूसरे के हाथ पकड़ कर पूरी सड़क को छेंक लिया था कि जाओ, देखें कैसे जाते हो! इससे पहले कभी किसी ने नहीं छेंका था इस तरह उसका रास्ता। दरअसल रास्ता तो उन्होंने मास्टरजी का छेंका था और वह उनके लिए मास्टरजी में शामिल थी।

दुर्गा की अगवानी में सड़क से जब लौटे तो बुआ के घर पहुंच गए। बुआ के घर उस दिन खाने की तरह सिर्फ पकौड़े खाए थे और राशु की प्रिय कांगनी की खीर भी। एक बहू पकौड़े छान रही थी, दूसरी हमें साथ देने के लिए ऊखल में कांगनी कूट रही थी, दुर्गा दौड़-दौड़ कर परोस रही थी।

ओसारे में खंभे से टिक कर बैठी बुआ की उसे याद थी, उनका घर याद था, पकौड़े याद थे मगर यह भी संभव है कि बुआ का चेहरा उसे भूल चुका हो। होने को यह भी हो सकता है कि बुआ अभी ऐन इसी वक्त किसी जादू से उसके सामने प्रकट हो जाए और वह उन्हें पहचान भी न पाए।

राशु ने धुनवानी जाकर जब भी बताया होगा कि वह भोपाल गया था तो बुआ ने भी ठीक उसी तर्ज पर जरूर पूछा होगा—काए मास्टरजी, जिज्जी कैसी हैं? मिली हतीं? उसे यह उम्मीद भी थी कि उसे बुआ का चेहरा भूल चुका हो तब भी बुआ को उसका चेहरा जरूर याद होगा। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि बुआ के चेहरे को उसके भूल जाने की और बुआ को उसके चेहरे के याद रहने की क्या वजह हो सकती है?

उसने ढेरोढेर चेहरे देखे थे, पता नहीं किन-किन शहरों में, किन-किन सड़कों पर, किन- किन रेलों, बसों, घरों में। बुआ के देखे चेहरों की गिनती आसानी से लगाई जा सकती थी। बुआ के गांव का हर आदमी एक-दूसरे को रोज देखता था बल्कि एकाधिक बार देखता था। पैदल पहुंच के गांवों में लोगों का आना-जाना कभी किसी वजह से तो कभी बेवजह ही हो जाता। बीस घर के गांव के हर घर में बुआ कई-कई बार बता चुकी थीं कि वे जीवन में दो-दो बार भोपाल जा चुकी थीं। 'बड़े मुझियम मां कोठी बनावे के लाने'।

समरू हर हफ्ते भोपाल जाता। तब भी समरू के हर हफ्ते भोपाल जाने और बुआ के जीवन में कुल दो बार भोपाल जाने में कोई मुकाबला नहीं था। अपनी दो भोपाल यात्राओं के बाद बुआ का काफी-सारा समय भोपाल के 'मुझियम में कोठी बनावे' में ही बीतता था। वे बताती जातीं, 'मुझियम मां गल्ला रखवे की कोठी बनावे के लाने ढेरों जगों से ढेरों लोग पौंचे हते। तुम मानों ने मानों, मनों सबरों की कोठियां एकदम अलग हती।'

अपने आकार-प्रकार-रंग-रूप में कोई एकदम सादी, चौकोर या गोल थी, बस छूही से पुती—जैसे बुआ की थी तो कोई कोठी के साथ-साथ और उसके अलावा भी बहुत-कुछ थी जैसे सोनाबाई वाली। उनकी कोठी पर पेड़ थे और शेर, सांप, चिड़िया भी थी। कोठी पर घर था, घर का

दालान था, दालान में लोग थे, ओसारे के खंभे से टिक कर ऊंघते हुए, घुटने के गिर्द हाथ बांध कर बैठे हुए, जैसे कुछ होने की या किसी के आने की प्रतीक्षा में। कोठी पर मय ऊखल के धान कूटती स्त्री थी। पूरा एक संसार था चाहे जिसका हो।

इतनी तरह की कोठियां बुआ ने जीवन में पहली बार देखी थीं। उन्हें इस बात की भारी तसल्ली और अचरज था कि चाहे जिस आकार-प्रकार-रूप-रंग की हों गल्ला सब कहीं के लोग मिट्टी की कोठी में ही रखते थे, उन्हीं की तरह।

वह जब राशु से पूछती तो पूछती ही चली जाती एक के बाद एक सबके बारे में। वह कितना भी बताता, उसे हमेशा लगता कि हुआ तो बहुत-कुछ होगा, इतने-सारे दिनों में, लेकिन उसे भूल गया होगा।

और क्या हुआ था? उसके पूछने पर राशु को याद कर-करके बताना पड़ता। इस प्रक्रिया में एक-न-एक छूटा हुआ व्यक्ति या घटना याद आ जाती। हां, एक बात तो बताना ही भूल गया, श्यामबाई ने अपने घर में दुकान खोल ली है। स्लेट, बत्ती, नोटबुक, पेंसिल, बिंदी, रिबन, नमकीन तक तमाम तरह की छोटी-मोटी चीजें रखती हैं।

गांव में वह पहली दुकान थी। दुकानदार श्यामबाई की दो विशेषताएं थीं एक तो उनके चेहरे पर हंसी सदा बनी रहती और दूसरे हल्का-सा घूंघट भी।

अब मैं अपना सब-कुछ आपको सौंपता हूं—सोने के लिए उठते हुए राशु ने उससे कहा। उठ कर कुरते की तीन और पेंट की चार यानी सात जेबों से निकाल-निकाल कर वह उसे देता गया—पेन, रेजगारी, टिकट, चूने की डिबिया, कंघी, कुछ कागज-पत्र और दो-चार टुकड़े लौंग-सुपारी के। लौंग को देख कर स्कूल जाते हुए रास्ते में पड़ने वाली उनके पारिवारिक दर्जी की दुकान की बगल में लगे लौंग के पौधे से तोड़ कर लगभग रोज ही खाई जाने वाली लौंग की ताजा पत्ती का स्वाद उसके मन में तैर गया।

लौंग-सुपारी के टुकड़ों के अलावा उसके उस सब-कुछ में कुछ कागज-पत्र भी थे। अधिकतर तो नाम-पतों वाले थे। नाम भी दूसरों के और पते भी दूसरों के। दो-चार अर्जियां भी उनमें अवश्य होंगी—जैसे किसी राधा की, जो आठवीं तक पढ़ी है। वह गांव की सबसे अधिक पढ़ी-लिखी और सबसे कम उम्र की स्त्री है। उसे स्कूल में पढ़ाने का बहुत चाव है और इसके लिए वह अपने गांव से दिखने वाले यानी नजर की पहुंच में बसे खुरई गांव तक पढ़ाने जाने को तैयार है। आधे घंटे में तो पहुंच जाएगी और उतने ही समय में वापस लौट आएगी। चार घंटे पढ़ाएगी। चौबीस में से कुल पांच घंटे की तो बात है! ऊपर से अपना गांव सामने ही दिखता रहेगा।

'और जब नहीं जाओगी स्कूल तब?' श्यामबाई ने पूछा था।

'काए ने जाऊंगी! मैं तो रोज जाऊंगी। खाना रोज खात हैं कि नईं?'

'सो तो नहाउत-धोउत भी रोजई हैं मानो कबे उपवास कर लेत हैं या करने पर जात है मानों घर में कौनउ मौका पर जाए, कोउ बीमार पर जाए, कहो खुदई बीमार पर जाओ।'

'हम तो बीमार परई नईं सकत।'

'काय नईं पर सकत?'

'काय सें कि पढ़ावे सें तो कोउ बीमार परई नईं सकत। रई बात मौका की तो उ दिना ने जैहें।'

'ऐसे जब कैउ बार ने जैहो तो का स्कूल बंद रहें?'

'नईं तो स्कूल बंद काय रेहें?'

लेकिन तब होगा क्या? वह गंभीर होकर सोचने लगी। उषा पढ़ने में तेज है! एक बार में ही समझ जाती है पाठ को। पूरा बताने से पहले ही पूरा उसकी समझ में आ जाता है। उ दिना उषा पढ़ा दैहे—उसने चट् से कहा।

अरजी देने के पहले ही इन सारी संभावनाओं के बारे में उसने सोच लिया था। इस तरह से देखें तो उसका स्कूल शुरू होने से बहुत पहले ही शुरू हो गया था। घर में किसी भी काम को करते हुए वह बार-बार स्कूल जा पहुंचती थी।

ऐसी किसी राधा की अरजी के अलावा किसी फूलवती या किसी शकुंतला की अरजी भी इन कागजों में हो सकती है।

बीस साल की शकुंतला के तीन बच्चे हैं—दो बेटियां, एक बेटा। शकुंतला ने मोमबत्ती बनाना सीख लिया है। अब वह अपनी बनाई मोमबत्ती बेचना चाहती है। खेती-बाड़ी तो थी नहीं, आदमी था और चौकीदार था। गांव में कोई दूसरा काम भी नहीं था। सरकार की एक योजना थी, उन औरतों को लोन देने की, जो एक-न-एक रोजगार करना चाहती थीं। जैसे शकुंतला मोमबत्ती बनाना चाहती थी, फूलवती कपड़े सीना चाहती थी, रधिया स्कूल

चलाना चाहती थी।

गांव में बीस घर थे इसलिए अधिक से अधिक बीस मोमबत्तियां रोज बिक सकती थीं, बहुत हुआ तो पचीस लगा लो। उतने से भी क्या होगा?

आस-पास भी तो गांव हैं, तीन मील पर, चार मील पर या पांच-सात मील दूर तक और बढ़ लो। शकुंतला की बनाई मोमबत्तियां कई-सारे गांव खरीदें तभी कुछ हो सकता था। पूरे गांव के लिए कपड़े सिलने के बावजूद फूलवती खाली रहेगी, मेलों-ठेलों के चलते भी गुजर मुश्किल ही होगी। इसीलिए शहर के बाजार तक अपना बनाया सामान पहुंचाने को इन लोगों ने अर्जियां दी थीं।

अर्जियां तो और भी कई हो सकती हैं, खेता की दुकान के परवाने के लिए, गांव में पंप सुधरवाने या कुआं खुदवाने के लिए। किसी की जांच की रपट या दवाई की पर्ची-वर्ची भी हो सकती है कागजों में।

कागज-पत्र सहित उसके सब-कुछ में शामिल बाकी चीजों में से किसी भी एक चीज को यानी कलम को या कंघी को उठा कर यह नहीं कहा जा सकता कि राशु कलम है कि रेजगारी है कि कंघी है कि....। इसी तरह इन चीजों को एक जुटा कर भी नहीं कहा जा सकता कि यह रहा राशु न यह कि वह कलम नहीं कि वह रेजगारी नहीं कि सुपारी या लौंग का टुकड़ा भी नहीं।

वह इनमें से कुछ भी हो सकता है और इनके अलावा भी कुछ भी।

होने के लिए तो उसे कलम होना भी मंजूर हो सकता है और कंघी होना भी। यों तो कोई-सी भी कंघी मगर वह तो निश्चय ही जिसे चेन्ना कई दिनों तक बनाए, जिस पर वह ऐसी एक चिड़िया बिठाए जो उड़ रही है कि बैठी है, कोई तय न कर पाए और जो उस कंघी को छोड़ दुनिया में कहीं न हो और यह कंघी सत्ती के जूड़े के लिए ही बनी हो। जैसे सत्ती और उसका जूड़ा अगर इस दुनिया में न हों तो ये बनें ही नहीं।

सत्ती का जूड़ा वह जूड़ा हो, जिसे गांव का हर लड़का पहचानता हो, ऐसे एक जूड़े के लिए कंघी न बनाने वाले लड़के को पूरे गांव में, बल्कि आस-पास के बीसियों गांवों में खोज पाना मुश्किल हो। अनगिनती कंघियों में से कोई एक भी किसी दूसरी जैसी न हो और बनी-संवरी उसी एक जूड़े के लाने हो।

इतनी कंघियां खुंसे उस जूड़े में कि उन्हें अनगिनत इसलिए भी मान लिया जा सकता है कि उन्हीं के साथ बनने वाली कई कंघियां, कई हाथों में बिना लगी ही छूट जा सकती हैं फिर भी लगने वालियों में वे कुछ-न-कुछ तो शामिल हो ही जाएंगी महज बनने के कारण।

सत्ती के जूड़े में बचे अंत में वही एक जिस पर बैठी इकलौती चिड़िया खुद भी तय न कर पाए कि वह उड़ रही है या बैठी है।

इतना अधिक था वह कि अपने भीतर अंटता नहीं था। जब देखो तब बाहर को लपक लेता था और बाहर तो पूरी दुनिया पड़ी थी। पूरे के पूरे चौदह लोक थे बाहर को।

इहलोक और परलोक को मिला कर चौदह कि घटा कर चौदह?

कैसे भी, मगर पूरे चौदह।

तो क्या ये दोनों लोक चौदह लोकों में शामिल नहीं हैं? उसने सुना और पढ़ा भी था कि चौदह लोक हैं, त्रिभुवन हैं, सात समंदर हैं, सात पाताल हैं—चार युग हैं, तैंतीस करोड़ देवता हैं, चौबीस तीर्थंकर हैं और मान लिया था कि ये सब हैं, गिना कभी नहीं।

तभी उसे पता चल गया था कि इनमें से किसी को भी गिना नहीं जा सकता।

गिनना शुरू करने पर हो सकता है कि देवता तैंतीस करोड़ न निकल कर अनगिनती निकल आएं और यही हश्र भुवन, समंदर, युग, लोक आदि का भी हो।

मृत्युलोक, जीवलोक, मानवलोक—ये सब क्या एक ही बात नहीं?

एक कैसे?

लोक तो वही न है।

लेकिन वहां के लोग तो अलग-अलग चीजों में मानते हैं। एक मृत्यु में मानता है तो दूसरा जीव में और तीसरा मनुष्य में।

ईश्वर की तरह इनके भी अनगिनत नाम हैं, इसीलिए अनगिनत लगे होंगे। कायदे से तो दो ही होने चाहिए—इहलोक और परलोक।

लोक भी ढेर-सारे और राशु भी ढेर-सारा। लोक चाहे चौदह हों चाहे अनगिनत, सब-के-सब जैसे उसी के लिए थे। जहां-कहीं रहता, जितनी देर रहता, वहां के स्थाई भाव

की तरह रहता। घंटे-आधे घंटे के लिए भी उसके घर में रहता तो ऐसे रहता जैसे हमेशा से वहीं रह रहा हो और हमेशा रहने वाला हो। उसके यहां खाना खाता तो उसके चौके में खाना खाता छूट जाता, खेता के सोता तो आंगन में खटिया पर सोता छूट जाता और फुटबॉल खेलता तो मैदान में फुटबॉल खेलता छूट जाता।

उसका सब-कुछ अस्थाई था—घर, सामान, बिस्तर, खाना, सोना, जागना। सुबह किसी एक जगह होती जैसे धुनवानी में तो शाम बाड़ी में और रात घोड़ापछाड़ में। वह जगह किसी का घर हो सकता है, जंगल हो सकता है, मोटरबाईक हो सकती है, रेल हो सकती है, बस या जीप तो आए दिन होती है और कभी तो यह जगह खुली बैलगाड़ी की ढलान भी हो सकती है।

बैलगाड़ी की ढलान पर पसरे-पसरे उसका सोना-जागना साथ-साथ होता। सोते में पहाड़ी की ढलान पर होता, जागते में बैलगाड़ी की। इस तरह वह गाड़ी और पहाड़ी की ढलानों पर साथ-साथ होता।

पहाड़ी की और बैलगाड़ी की ढलान पर सोने में अलबत्ता फर्क था। अगर इस फर्क के बारे में उससे पूछा जाए तो वह बारी-बारी से कई बार दोनों ढलानों पर सोकर देखेगा, कुछ भी कहने से पहले।

बैलगाड़ी की और पहाड़ी की ढलानों पर लेटते समय आसमान ऊपर होता, लेकिन पहाड़ी पर एकदम पास आ जाता, गाड़ी में दूर बना रहता। पहाड़ी पर सोना कभी-कभी आसमान में सोए होने जैसा लगता, फिर आसमान में सोना, आसमान होने जैसा और आसमान होते ही वह सब-कुछ में फैल जाता, कुछ नहीं की तरह। पहाड़ी की ढलान पर सोता हुआ वह पूरी पहाड़ी पर बराबर फैल जाता, उठ कर चला जाता तब भी पहाड़ी पर सोता बचा रह जाता। सोने को गाड़ी में भी पहाड़ी पर सोने की तरह ही सोता और अपनी पूरी देह से सोता।

उसका पैर या हाथ पकड़ कर वह हिला देती तब भी ऐसे सोता रह सकता था जैसे हिलाया या दबाया जाने वाला पैर या हाथ उसका न हो। लेकिन उसका नाम तो वह मन में बोलती तो भी भर-नींद से उठ कर बैठ जाता वह, जैसे सोते समय अपने ही सिरहाने जगा हुआ नाम हो। ❖

मनुष्य के समस्त कर्मों के पीछे मूलभूत कामना तो अपने सुख की ही होती है। छोटे-से-छोटे कार्य से लेकर बड़े-से-बड़े कार्य या चेष्टा के पीछे, सुख की कामना ही होती है। 'गलत' और 'सही', 'नैतिक' और 'अनैतिक', जो भी नाम हम दें—सभी प्रकार के कार्यों, चेष्टाओं के पीछे भी मूल रूप से यही चाहत प्रेरणा के रूप में रहती है। यह अलग बात है कि कुछ लोग मानकर चलते हैं कि अमुक कार्य में या अमुक उपलब्धि में सुख मिलेगा और कुछ लोग जानकर, सचेत होकर, वो कार्य करते हैं, जिसमें सुख मिलेगा। परंतु हम कह सकते हैं कि सुख की चाहत ही हमारे कार्य की ऊर्जा होती है। यह सही है कि सुख को, जो कि एक अमूर्त अनुभूति है, सभी अपनी-अपनी समझ या दृष्टि के अनुसार परिभाषित करते हैं या साकार रूप देते हैं।

एक और बात यह है कि आदमी जो भी कुछ काम करता है वह अपने संसार में किसी-न-किसी प्रकार का बदलाव (सुख की अभिलाषा से) लाने की मंशा से ही करता है। हर बदलाव का असर अंततः उसके आस-पास के संसार पर भी पड़ता ही है। परंतु साथ ही यह भी सत्य है कि सृष्टि या जिस संसार में हम रहते हैं उसमें हर क्षण बदलाव होते ही रहते हैं, बदलाव तो एक प्रकार से नियति है। हर बदलाव के पीछे अनेक कारण और कारक होते हैं। मनुष्य स्वयं भी उस बदलाव में, अन्य अनेक कारकों और कारणों में से एक कारक होता है क्योंकि अगर मनुष्य सक्रिय रूप से, सोच-समझ करके, कुछ कार्य करता है, तो उसके आस-पास के संसार में एक प्रकार का बदलाव आता है और अगर वह कुछ 'नहीं करता' है तो एक दूसरे प्रकार का बदलाव उसके संसार में आता है। इसलिए मनुष्य 'करे' या 'न करे'—दोनों ही तरह से, वह बदलाव को प्रभावित करता है। कारण और कारक बदलने से सिर्फ बदलाव का प्रकार बदलता है, परंतु बदलाव को रोका नहीं जा सकता, वह तो अवश्यंभावी होता है। इसी प्रकार 'न करना' भी कुछ नहीं होता। मनुष्य 'न करके' भी तात्त्विक दृष्टि से तो करता ही है। इसलिए मनुष्य हर समय कुछ-न-कुछ करता ही रहता है, उसके पास 'न करने' का कोई विकल्प ही नहीं है। सिर्फ 'क्या करने' का ही विकल्प है, ठीक उसी प्रकार, जैसे 'बदलाव न हो' का कोई विकल्प नहीं है, सिर्फ 'कैसा बदलाव हो', का ही विकल्प है।

—पवनकुमार गुप्ता

भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएं

भंगुर पात्रता

मैं नहीं जानता था कि तुम
ऐसा करोगे

बार-बार खाली करके
मुझे
बार-बार भरोगे

और फिर रख दोगे
चलते वक्त
लापरवाही से चाहे जहां

ऐसा कहां कहा था तुमने

खुश हुआ था मैं
तुम्हारा पात्र बन कर

और खुशी
मुझे मिली ही नहीं
टिकी तक मुझ में

तुमने मुझे हाथों में लिया
और मेरे माध्यम से
अपने मन का पेय पिया

स्थिति वह भंगुर
होकर भी
बुरी नहीं थी

मगर नरमी न बरतना जाते हुए
डाल देना हर कहीं
जमीन पर गाते हुए
अखर गई मुझे अपनी पात्रता

मैं नहीं जानता था तुम
ऐसा करोगे
बार-बार खाली करोगे
बार-बार भरोगे
और चल दोगे अंत में
चाहे जहां डाल कर!

सर्वंसहा

सब-कुछ
तुम्हीं पर नहीं है निर्भर
भाई सूरज

यह रज भी एक चीज है
सारी सज-धज
उसी में से अंकुरी है

धुरी पर अपनी
वह घूमती है
तुम नहीं

निष्क्रिय हो याने
तुम
सक्रिय वह है

प्रिय है इसीलिए
वह तुमसे ज्यादा
तत्त्वों को

पानी उस पर
बरसता है
बहता है

वातावरण
छाया की तरह
उस पर छाया रहता है

ठीक हो तुम
ठीक है तुम्हारी गरमी
मगर

नरमी उसकी भी तो
समझो जरा
क्या कर सकते थे तुम
होती नहीं अगर
होती नहीं सर्वंसहा हमारी धरा!

मेरे वृंत पर

मेरे वृंत पर
एक फूल खिल रहा है
उजाले की तरफ मुंह किए हुए।

और उकस रहा है
एक कांटा भी
उसी की तरह
पीकर मेरा रस
मुंह उसका
अंधेरे की तरफ है।

फूल झर जाएगा
मुंह किए-किए
उजाले की तरफ
कांटा
वृंत के सूखने पर भी
वृंत पर बना रहेगा।

अकर्ता

तुम तो
जब कुछ रचोगे
तब बचोगे

मैं नाश की संभावना से रहित
आकाश की तरह
असंदिग्ध बैठा हूं! ❖❖

शीलन

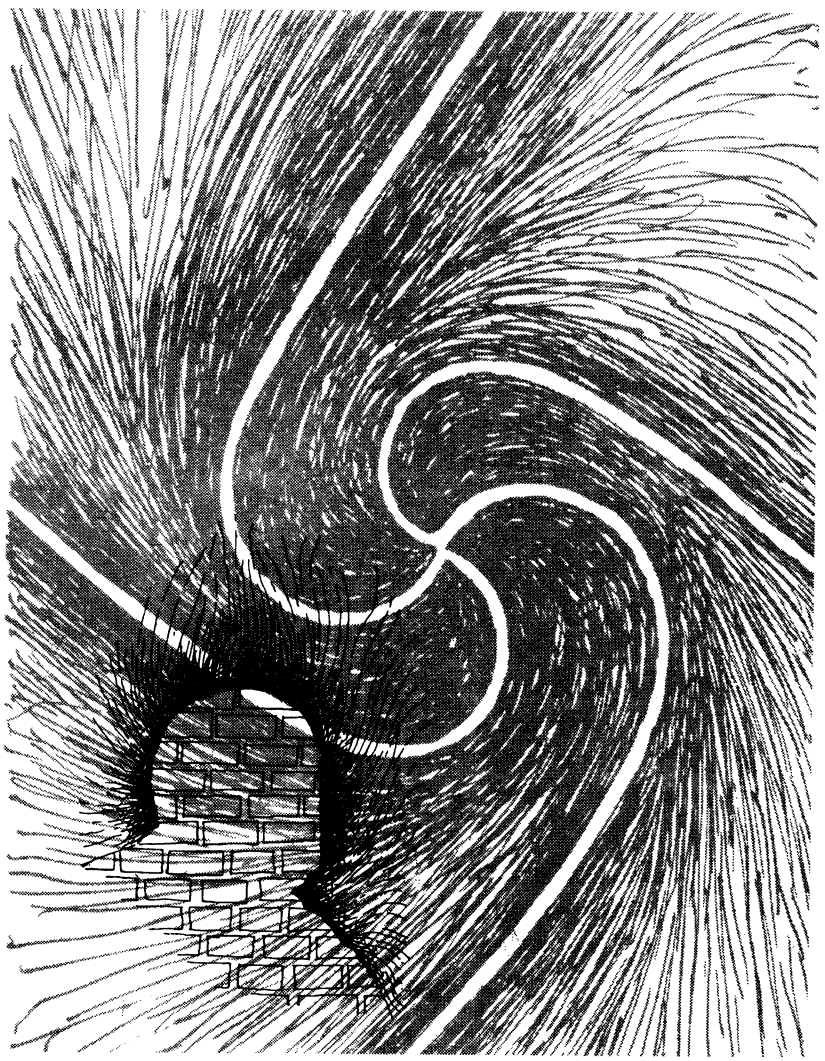

भारत की सांस्कृतिक एकता की चर्चा अकसर एकांगी दृष्टि से की जाती है। कभी-कभी हम उसे देश की महान शास्त्रीय परंपराओं और विराट दार्शनिक उपलब्धियों से जोड़ लेते हैं। ये परंपराएं और उपलब्धियां निःसंदेह महत्त्वपूर्ण हैं, परंतु वे देश की संस्कृति का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। धर्मग्रंथ संस्कृति की धरोहर माने जा सकते हैं, परंतु सामाजिक जीवन उनके पृष्ठों में बंदी नहीं होता। स्थापत्य तथा रूपंकर और प्रदर्शनकारी कलाएं, काव्य और साहित्य भी संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं, परंतु संस्कृति का फलक कहीं अधिक विशाल और व्यापक है—उसके अंतर्गत मानव और प्रकृति, मानव और मानव, मानव और रहस्यमय अज्ञात और मानव के अंतर्जगत् की गुत्थियों तथा समस्याओं का समावेश होता है। भारतीय संस्कृति की एकता और विविधता को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक।

—श्यामाचरण दुबे

हमारा चित्त या मन सदैव विचारों की यात्रा करते हुए बाहर दौड़ा करता है। जीवन-ऊर्जा का 80 फीसद भाग यों ही व्यर्थ बाहर बहकर नष्ट हो जाता है। इसे संधारित करने की क्षमता हम नहीं जुटा पाते हैं। ध्यान एवं योग से इस जीवन-ऊर्जा (चैतन्य धारा) को अपने भीतर रोक सकते हैं। जैसे उत्तल लेंस (Convex Lens) फैली हुई प्रकाश किरणों को एक बिंदु पर फोकस कर ऊर्जा (ऊष्मीय) का निष्पादन करता है, वैसे ही ध्यान से विचारों का प्रवाह या विचारों का आक्रमण रुककर विचार-शून्य स्थिति की ओर ले जाता है। ध्यान से हमारे विचारों में विकारों का परिशोधन होता है। ध्यान है—हमारी बाह्य कायिक, वाचनिक एवं सूक्ष्म मानसिक भाव-वृत्तियों का संकुचन।

चिकित्सा विज्ञान और अध्यात्म

निहालचंद जैन ❑

अध्यात्म, प्रार्थना, ध्यान और सामायिक आदि का रोगी के ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है—पश्चिमी जगत्, विशेषकर इंग्लैंड में इस पर अनुसंधान और विवेचनाएं चल रही हैं। भारत जिस आध्यात्मिक आस्था से हजारों वर्षों से जुड़ा है, विश्व का ध्यान आज उन रहस्यों की ओर जाना शुरू हो गया है। ब्रिटेन में इस बात पर विशेष बहस चल रही है कि भारत में प्रचलित अध्यात्म, आस्था और प्रार्थना जैसे 'भाव-विज्ञान' से रोगी के स्वस्थ होने की रफ्तार बढ़ जाती है। इस पर वहां सफल परीक्षण और प्रयोग हुए हैं।

डॉ. लॉरी डोसे ने अपने एक संस्मरण में लिखा है कि उन्होंने प्रार्थना की एक अजीब चिकित्सा पद्धति का अनुभव किया। उन्होंने अपने प्रशिक्षण समय का जीवंत वृत्तांत लिखा है। जब वे टेक्सास के पाईलैंड मेमोरियल अस्पताल में थे तो उन्होंने एक कैंसर के मरीज को अंतिम अवस्था में देखा और उसे सलाह दी कि वह उपचार से विराम ले ले, क्योंकि उपलब्ध चिकित्सा से उसे विशेष लाभ नहीं हो रहा था।

एक वर्ष के पश्चात् जबकि डॉ. लॉरी वह अस्पताल छोड़ चुके थे, उन्हें एक पत्र मिला कि क्या आप अपने पुराने मरीज से मिलना चाहेंगे? सन् 1980 में जब डॉ. लॉरी, मुख्य कार्यकारी अधिकारी बने—यह निष्कर्ष दिया कि प्रार्थना से विभिन्न प्रकार के महत्त्वपूर्ण शारीरिक परिवर्तन घटित होते हैं। उन्होंने लिखा कि—मुझे यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ कि वह मरीज अब भी जिंदा है। उसके 'एक्स-रे' का निरीक्षण करने पर पाया कि उसके फेफड़े बिल्कुल ठीक हैं। उसके बिस्तर पर बैठा हुआ कोई-न-कोई मित्र उसके स्वास्थ्य-लाभ की अवश्य प्रार्थना किया करता था।

मुख्य कार्यकारी अधिकारी के रूप में डॉ. लॉरी के दिए गए निष्कर्षों से चिकित्सा विज्ञान में नई आध्यात्मिक दृष्टि का सूत्रपात हुआ और यह सुनिश्चित हुआ कि शरीर में होने वाली 'व्याधि' का एक प्रमुख कारण हमारी मानसिक सोच है—जो 'आधि' के नाम से जानी जाती है। गलत सोच—मनोविकारों या मनोरोगों का कारण बनती है। इसी परिप्रेक्ष्य में 'प्रार्थना' मन की बीमारी का सही इलाज है। अक्सर यह देखा गया है कि व्यक्ति जब 50 की उम्र पार कर जाता है, उस पर मानसिक तनाव का प्रभाव जल्दी होने लगता है। चिड़चिड़ापन उसके तनाव की ही अभिव्यक्ति है। डायबिटीज बढ़ना, भूख कम लगना, कमर-दर्द, आंखों की ज्योति मंद पड़ना और रक्तचाप प्रभावित होना आदि बीमारियां—मानसिक तनाव के कारण हैं।

वस्तुतः प्रार्थना या स्तुतिगान करते समय हम उस लोकोत्तर व्यक्तित्व से जुड़ जाते हैं, जिसकी गुणस्तुति हमारी प्रार्थना का आधार होता है। मूल संस्कृत पाठ से भक्तामर स्तोत्र का उच्चारण करते हुए क्या हम वैसी ही ध्वनि-तरंगों का निष्पादन और निर्गमन नहीं करने लगते हैं जो आचार्य मानतुंग ने सृजित की होगी? उस समय ध्वनि-तरंगों की 'फ्रिक्वेंसी' में साम्यावस्था होने से हम आचार्य मानंतुग से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। केवल वाचनिक प्रार्थना रूपांतरण नहीं कर पाती। भावों की तीव्रता या भाव-संप्रेषण प्रार्थना का प्रमुख तत्त्व होना चाहिए। ऐसी प्रार्थना बुरे या कषायजन्य विचारों के लिए परावर्तक (Reflector) का कार्य करती है। बुरे विचार हमारे ऊपर आक्रमण करें, इसके पहले ही वे प्रत्यावर्तित हो जाते हैं। अतः प्रार्थना भावनात्मक परिवर्तन के लिए एक प्रबल निमित्त है।

घटना 1999 की है। कैंसर विशेषज्ञ डॉ. रॉबर्ट ग्राइमर बर्मिंघम रायल आर्थोपेडिक अस्पताल के अधिकारी थे। उनकी नजर एक ऐसे मरीज पर पड़ी जो हड्डियों के कैंसर से जीवन-मृत्यु के बीच संघर्ष कर रहा था। उसका ट्यूमर शल्य-क्रिया द्वारा अलग कर दिया गया था। लेकिन जब दूसरा ट्यूमर पैदा हो गया तो मरीज मैरीसेल्फ ने मौत को ही मित्र मान लिया। वह पेशे से साइकियाट्रिस्ट थी। उसने दवा की चिंता छोड़कर ईश्वर की प्रार्थना के लिए अपनी आस्था जोड़ ली। समय बीतता गया और कुछ अद्‌भुत परिणाम हासिल हुए। स्कैन रिपोर्ट में उसका ट्यूमर कुछ घटता हुआ नजर आया। डॉ. ग्राइमर ने मैरी से इसके बारे में जानना चाहा तो उसने बड़े आत्म-विश्वास से भरकर कहा—हां डॉक्टर! मेडिकल इलाज से परे भी कुछ और है। अच्छा होने में मैं उसी को श्रेय देती हूं।

डॉ. ग्राइमर ने हंसते हुए कहा—'मैं उसे खरीद लेना चाहता हूं।' 'नहीं! वह कोई क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं है।' वस्तुतः यह वस्तु नहीं, विशुद्ध भाव है। इसे करोड़ों डॉलर में भी नहीं खरीदा जा सकता है। ब्रिटेन के डॉक्टरों का ध्यान इस दूसरी शक्ति की ओर जाने लगा। जिसे अध्यात्म (ध्यान/प्रार्थना) की अमोघ शक्ति कह सकते हैं। वे चिकित्सा विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान के परस्पर सह-संबंधों (Corelation) पर प्रयोगों में जुट गए।

एडिनबरा यूनिवर्सिटी के मेडिकल स्कूल के डॉक्टर 'मरे' अपने साथ मरीज की एक्स-रे रिपोर्ट और पेनिसिलीन के साथ यह जानकारी भी रखते थे कि क्या मरीज कभी प्रार्थना भी करता है? मरीज के मन में जो परेशानियां उसकी बीमारी पर हावी हैं, उन्हें बाहर निकालने के लिए डॉक्टर प्रयोग करे, तो इलाज का प्रभाव ज्यादा सक्रिय होने लगता है। प्रो. स्टीव राइट के अनुसार डॉक्टर को पहले अध्यात्म की जरूरत है, जिससे वह मरीज को प्रभावित कर सकता है। एडिनबरा विश्वविद्यालय के चिकित्सा छात्रों ने पाठ्यक्रम निर्धारकों से मांग की कि वे चिकित्सा-पाठ्यक्रम के साथ अध्यात्म की कक्षाएं लगाएं, जहां उन्हें विधिवत ध्यान और प्रार्थना के वैज्ञानिक प्रशिक्षण से अवगत कराया जाए। इन्हें योग-विद्या के बारे में प्रशिक्षण भी दिया जाए। ध्यान और योग से शारीरिक स्थिरता के साथ मन को एकाग्र किया जा सकता है।

ध्यान एवं रोग-निदान में इसकी महत्ता

ध्यान में किसी मंत्र या मंत्र-बीजाक्षर का निशब्द चिंतन है, जो आत्मशक्ति तथा संकल्पशक्ति को बढ़ाने में सबल निमित्त है। ध्यान-संवेगात्मक भावों एवं मानसिक विकारों पर नियंत्रण कर व्यक्ति को सहिष्णु एवं तनावरहित करता है। क्रोध जैसे आवेग को ध्यान से कम कर सकते हैं। शांत एवं स्वभाव में जीने में यह सहायता करता है।

हमारा चित्त या मन सदैव विचारों की यात्रा करते हुए बाहर दौड़ा करता है। जीवन-ऊर्जा का 80 फीसद भाग यों ही व्यर्थ बाहर बहकर नष्ट हो जाता है। इसे संधारित करने की क्षमता हम नहीं जुटा पाते हैं। ध्यान एवं योग से इस जीवन-ऊर्जा (चैतन्य धारा) को अपने भीतर रोक सकते हैं। जैसे उत्तल लैंस (Convex Lens) फैली हुई प्रकाश किरणों को एक बिंदु पर फोकस कर ऊर्जा (ऊष्मीय) का निष्पादन करता है, वैसे ही ध्यान से विचारों का प्रवाह या विचारों का आक्रमण रुककर विचार-शून्य स्थिति की ओर ले जाता है। ध्यान से हमारे विचारों में विकारों का परिशोधन होता है।

ध्यान है—हमारी बाह्य कायिक, वाचनिक एवं सूक्ष्म मानसिक भाव-वृत्तियों का संकुचन। जितना-जितना बाह्य प्रवृत्तियों में संकुचन या निरसन होगा, उतना ही आत्म-शुद्धि या आत्म-शक्ति का विकास होता जाएगा। ध्यान—जैन दर्शन की आत्मा है। यह चारित्र-शुद्धि का अंतिम पड़ाव है।

रोग के निदान में ध्यान और योग में अद्‌भुत क्षमता है। नोर्थ कैरोलिना की ड्यूक यूनिवर्सिटी के डाक्टरों ने पाया कि जो लोग मंदिर, उपासना गृह, प्रार्थना या ध्यान स्थल पर नियमित जाकर ध्यान करते हैं, वे इन स्थानों पर

न जाने वाले लोगों की अपेक्षा कम बीमार पड़ते हैं। अध्ययनों से एक बात और सिद्ध हुई है कि जो लोग सप्ताह में एक या अधिक बार धर्मस्थलों/तीर्थस्थानों पर जाकर धर्मसेवा करते हैं, वे अन्य लोगों की अपेक्षा सात वर्ष अधिक जीते हैं।

ब्रिटेन में 31 अध्ययनों से एक तथ्य उजागर हुआ कि जो प्रार्थना में विश्वास रखते हैं और प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं—वे ज्यादा प्रसन्न रहते हैं। मानसिक तनाव कम होने से वे शांति का अनुभव करते हैं। ब्रिटेन के ही डॉ. गिल व्हाइट का कथन है कि—'अध्यात्म के जरिए चिकित्सा करते समय मैं उस समय तक प्रतीक्षा करती हूं, जब तक मेरे शरीर में एक करंट-सा महसूस नहीं होने लगता। मेरे हाथ, मरीज के सिर व शरीर के ऊपर घूमते हैं और रोगी की मेरे मन व शरीर से 'ट्यूनिंग' हो जाती है, जिससे हमारे व मरीज के बीच ऊर्जा का संचरण होने लगता है।

रॉयल सोसाइटी आफ मेडिसीन के 'जर्नल' में प्रकाशित एक शोध लेख में डॉ. डिक्सन के अनुसार—'पहिले वह स्वयं अध्यात्म के जरिए ऊर्जा संचित करता है, जो उसे ब्रह्मांडीय ऊर्जा से प्राप्त होती है, फिर उसे मरीज को प्रदान करता है।' अध्यात्म के क्षेत्र में 'विश्वास' या 'श्रद्धा' एक शक्तिशाली चीज है। यदि डॉक्टर मरीज को यह विश्वास दिला पाने में सफल है कि वह अपने आराध्य के प्रति पूर्ण विश्वास रखे तो जल्दी स्वास्थ्य-लाभ ले सकेगा, तो ऐसे डॉक्टर की दवा ज्यादा असरकर साबित होगी।

अमेरिका के 125 में से 50 मेडिकल कालेजों में इस समय अध्यात्म विषय को पाठ्यक्रम के रूप में स्वीकार कर पढ़ाया जा रहा है। डॉ. ब्रानले एंडरसन का कहना है कि जब तक डॉक्टर स्वयं को अध्यात्म की ऊर्जा से 'चार्ज' नहीं करेगा, तब तक वह मरीज को इससे चार्ज नहीं कर सकता। पश्चिमी जगत् में आज आध्यात्मिक इलाज को समग्र इलाज की संज्ञा दी गई है।

भारत की यह विरासत, जिसका अलिखित 'पेटेंट' अभी तक भारत के नाम ही है, भारत में क्यों उपेक्षित हो रही है? आवश्यकता है, अध्यात्म को चिकित्सा विज्ञान से जोड़कर इस मानवीय सेवा को धर्म से संबद्ध कर आध्यात्मिक प्रयोग (Spritual Experiment) करने की। अध्यात्म की शक्ति जीवन में शांति का वर्णन करती है, जो अमोल विरासत है। जरूरत है—एक दृढ़ विश्वास, आस्था, श्रद्धा और संकल्प की। ❖

बाहर की जो चुनौती मिलती है, ले। उसके जवाब में अपनी निष्ठा दे। खो न जा, बौखला मत। शांत और स्वस्थ रह और अपने से भाग मत। कह और लिख और कर वह जो तू मानता है। इसमें तू पाएगा। अपने को और उसी में से सबको।

यह आज का लिखने का सिलसिला जारी हुआ तो देख, तोड़ना नहीं। आत्मा का और संसार का—दोनों का हिसाब इसमें दर्ज कर। दोनों में तू दिवालिया है। इस बात को खुल कर पहचान लेगा तो साहूकार होते देर क्या लगती है। सत्य का सदा साथ रख। आस न खो। भगवान अशरणशरण है। मैल पास न ले। झूठ मैल में से है और मैल बढ़ाता है। उसका कभी सहारा न ले।

जो मामले उलझे पड़े हैं उनमें तत्पर हो। इन आठ-दस वर्षों की निश्चेष्टता में जिंदगी के तार आपस में बुरी तरह उलझ गए हैं। एक-एक बट खोलता जा। ऐसे धीरे-धीरे सब सुलझ जाएगा और तू आजाद होगा। आवश्यक है कि आगे अब उसमें बैर न डाल। एक-एक तार ले और उन्हें धीमे हाथ से सुलझाता जा। झुंझला मत, न बाहर के प्रति रीझ या खीझ। शांत और धीर, प्राप्त और प्रस्तुत के प्रति जगा रह और अपने को पूरी तरह उन्हें देता रह।

दुनिया भगवान ने सबको दी है कि इसी में से अपनी मोक्ष बनाएं। सूत्र परखा हुआ एक है : अपने प्रति सत्य, दूसरे के प्रति आदर। इस सत्य-अहिंसा की अमोघ नीति से तू सब बंधन काट सकेगा और उलझनें खोल सकेगा।

—जैनेंद्रकुमार

हमारी पांचों ज्ञानेंद्रियों को संयम के सूत्र से प्रशिक्षित करना होगा। उन्हें बार-बार प्रशिक्षण के द्वारा ही हम अपने व्यक्तित्व में निखार ला सकते हैं। आज की युवा पीढ़ी न अच्छा देख रही है, न अच्छा सुन रही है, न ही अच्छा खा रही है। सार्थक क्या है? निरर्थक क्या है? इस के बीच भेद-रेखा खींचनी होगी। सार्थकता को अधिक प्रश्रय दिया जा सकता है। आज से यही संकल्प करें कि अपने जीवन को आदर्श बनाने के लिए सर्वश्रेष्ठ को स्वीकारें। अपने समय का रचनात्मक कार्यों में नियोजन करें। आचार्यश्री तुलसी का कथन है—'जो व्यक्ति समय का नियोजन करना जानते हैं, वे सब-कुछ करके भी फुरसत में रहते हैं। जो समय का नियोजन नहीं कर पाते, उनकी अस्त-व्यस्तता उन्हें अमन-चैन से नहीं जीने देती।'

क्षणं जाणाहि पंडिया

मुनि रमेशकुमार ❑

जीवन का हर नया प्रभात कुछ नया उपहार लेकर आता है, पर हर कोई उस उपहार को लेना नहीं जानता है और न समय का मूल्यांकन करना भी। समय सभी का गुप्त मित्र है। वह गुप्त रूप से अमूल्य उपहार लेकर आता है। हम उसका उपयोग नहीं करते हैं, तो वे अमूल्य क्षण व्यर्थ चले जाते हैं। समय ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसे हम कहीं से ले आएं और उससे अपना कार्य करवाएं।

समय हमारे पास है, उसे सही इस्तेमाल करने की आवश्यकता है। किसी काम में असफल होने वाला व्यक्ति, अक्सर समय को कोसता है। समय, जो स्वयं अपनी गति से लयबद्ध चलता है, हम उसके साथ मिलकर चलें तो हमें समयाभाव की फिर कमी महसूस नहीं होगी। कहा भी गया है—'मैंने समय को नष्ट किया और अब समय मुझे नष्ट कर रहा है।' इस उक्ति में यथार्थ झलक रहा है, हम इसका दर्शन करें।

भगवान महावीर ने कहा—'क्षणं जाणाहि पंडिया'—क्षण को जानने वाला पंडित होता है।' आवश्यकता है कि समय को पहचानें व उसका अंकन करें। जो व्यक्ति समय के मूल्य को जान लेता है, उसका सारा ध्यान समय की धुरी पर ही केंद्रित रहता है। वह उसी को मूल्य देता है। बीता हुआ समय कभी लौट कर नहीं आता। सुकृत कर्मों से मनुष्य-जन्म तो फिर भी प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन समय को नहीं। गया हुआ धन, खोया हुआ स्वास्थ्य, भूली हुई विद्या तथा छीना हुआ राज्य हमें वापिस मिल सकता है, किंतु बीता हुआ समय पुनः प्राप्त होना संभव नहीं है।

एक चित्रकार ने एक रेखाचित्र बनाया। उसने रेखाचित्र में एक चेहरा बनाया और उसके आगे के हिस्से को बालों से ढंक दिया। चित्रकार ने सिर को पीछे से गंजा दिखाया व पैरों में पर लगा दिए।

उसे देखने वाले चकित हुए। चित्रकार से पूछा गया—'यह किसका चित्र है?' चित्रकार ने शांति से जवाब दिया—'समय का'। दर्शकों की समझ में फिर भी कुछ नहीं आया। फिर उन्होंने प्रश्न किया—'समय का यह चित्र कैसा है?'

तब चित्रकार ने उनकी उत्सुकता शांत करते हुए समझाया—'समय का चेहरा ढका होने से, उसका पता नहीं चलता। पीछे से गंजा इसलिए है कि उसे पीछे से पकड़ा नहीं जा सकता और 'पर' बताते हैं कि यह तेजी से उड़ने में सक्षम है।'

मैं समझता हूं कि वह कार्टून-चित्र बिलकुल सही था। तेज गति से भाग रहे समय को स्थूलतः पकड़ना असंभव

है, जबकि समय का उचित उपयोग करना ही 'समय' को पकड़ना है। समय चूक जाने पर पश्चात्ताप करना ही हाथ में रहता है—'का वरषा जब कृषि सुखानी, समय चूकि पुनि का पछतानी?'

फ्रेंकलिन का कथन है कि यदि जीवन से प्यार करते हैं तो समय को नष्ट मत करो, क्योंकि समय से ही जीवन बना है। रस्किन का मत है कि जीवन का एक घंटा सौ कर्मों की आशा से आता है, इसलिए उसकी एक घड़ी व्यर्थ न जाने देनी चाहिए। पल-पल बीतने से वह शीघ्र ही बीत जाएगा। फिर भी काम नहीं हो सकेगा। जैसे ठंडे लोहे के ऊपर हथौड़े की चोट का असर नहीं होता। वैसे ही समय निकल जाने पर कुछ नहीं होता है। वेरमेंट के मोची चार्ल्स ने संकल्प किया था कि मैं प्रतिदिन एक घंटा लिखने-पढ़ने में व्यतीत करूंगा। उस संकल्प के सहारे वह प्रगति करते-करते एक दिन अमेरिका का प्रख्यात अंकशास्त्रविद् बन गया।

समय सतत प्रवाहशील है, वह चलता रहता है। आज तक वह किसी के लिए रुका नहीं है। पल-पल में वह भूतकाल में परिणत होता जा रहा है। यदि हम इसे वर्तमान में ही पकड़ कर कार्य करें तो, निश्चित ही हम हर क्षेत्र में सफल हो सकते हैं। समय का अंकन करने की वजह से हम पराजित या असफल होकर चिड़चिड़े, असंतुष्ट व तनावमुक्त भी हो सकते हैं। समय की गुलामी छोड़कर हम समय को अपना गुलाम बनाएं। यह तभी संभव है—उचित समय पर कार्य करें।

समय के मूल्य को समझें। समय का मूल्यांकन करें तभी हम रचनात्मक व सृजनात्मक कार्य कर सकते हैं। बेंजामिन फ्रैंकलिन के जीवन का एक प्रसंग है। अमेरिका में एक व्यक्ति ने फ्रैंकलिन के सेल्समैन से पूछा—'इस किताब की क्या कीमत है?' 'एक डालर।' 'इससे कम नहीं?' 'नहीं।' तब उस व्यक्ति ने पूछा—'क्या मिस्टर फ्रैंकलिन अंदर हैं?' 'हां यहीं हैं। अभी वे काम में लगे हुए हैं।' 'मैं जरा उनसे मिलना चाहता हूं।' मालिक को बुलाया गया। खरीददार द्वारा किताब की कीमत पूछने पर फ्रैंकलिन ने कहा—'सवा डॉलर!' 'अभी तो आपके 'सेल्समैन' ने एक डॉलर कहा था।' 'ठीक है, अपना काम छोड़कर आने में मेरा भी समय खर्च हुआ है।' 'अच्छा, अब इसका कम-से-कम मूल्य बता दीजिए तो मैं ले लूंगा।' 'डेढ़ डॉलर!' 'अभी तो सवा डॉलर ही कह रहे थे?' 'हां, मैंने उस समय कहा था। आप जितनी देर करते जाएंगे, किताब की कीमत उतनी ही बढ़ती जाएगी।' वह व्यक्ति चुपचाप डेढ़ डॉलर देकर चला गया। उसे समय धन और विद्या में बदल देने की प्रेरणा फ्रैंकलिन से मिली।

जीवन का एक-एक पल कीमती होता है। हम अपने समय को व्यर्थ के कामों में लगाने से बचें। कई बार व्यक्ति सोचता ही नहीं कि मुझे क्या करना है? मैं कर क्या रहा हूं? मेरा उद्देश्य क्या है? जैसे टीवी चला दिया, किंतु यह पता नहीं कि मुझे देखना क्या है? दुकान में प्रवेश किया लेकिन यह मालूम नहीं—मुझे खरीदना क्या है? मित्रों के संग चर्चा कर रहे हैं—यह पता नहीं मुझे किस विषय पर चिंतन करना है।

आवश्यक व अनावश्यक कार्यों के बीच भेदरेखा न होने के कारण चाहे-अनचाहे कई बार व्यक्ति इन परिस्थितियों का शिकार हो जाता है।

आज मनोरंजन के नाम पर भी युवा पीढ़ी में जबरदस्त आकर्षण है। बड़े शहरों में मनोरंजन जिस स्तर का हो रहा है उससे तो यही लगता है कि जीवन-मूल्यों का ह्रास हो रहा है। इस पर युवा पीढ़ी को ही चिंतन करना होगा कि वे क्या चाहते हैं? अच्छे केरियर का स्वप्न संजोने वालों को समय का अंकन करना होगा। मनोरंजन आदि के साथ भी संतुलन बैठाना होगा।

हमारी पांचों ज्ञानेंद्रियों को संयम के सूत्र से प्रशिक्षित करना होगा। उन्हें बार-बार प्रशिक्षण के द्वारा ही हम अपने व्यक्तित्व में निखार ला सकते हैं। आज की युवा पीढ़ी न अच्छा देख रही है, न अच्छा सुन रही है, न ही अच्छा खा रही है। सार्थक क्या है? निरर्थक क्या है? इस के बीच भेद-रेखा खींचनी होगी। सार्थकता को अधिक प्रश्रय दिया जा सकता है। आज से यही संकल्प करें कि अपने जीवन को आदर्श बनाने के लिए सर्वश्रेष्ठ को स्वीकारें। अपने समय का रचनात्मक कार्यों में नियोजन करें। आचार्यश्री तुलसी का कथन है—'जो व्यक्ति समय का अच्छे ढंग से नियोजन करना जानते हैं, वे सब-कुछ करके भी फुरसत में रहते हैं। जो व्यक्ति समय का सही ढंग से नियोजन नहीं कर पाते, उनकी अस्त-व्यस्तता उन्हें अमन-चैन से नहीं जीने देती।'

समय काल का अविभाजित हिस्सा है। यदि हम समय के अंकन की कला में निष्णात हो जाते हैं तो समय भी हमारा अंकन करेगा। जो कार्य जिस समय व जिस विधि से किया जाता है उसे वैसे ही करें। आगम वाणी में कहा

है—'काले कालं समायरे'—ठीक समय पर कार्य करें। समय और कार्य को अलग-अलग विभक्त न करके उसे समय के साथ बांधने से कार्य सफल होता है। प्रस्तुत है समय-प्रबंधन के कुछ सूत्र—

समय-प्रबंधन के कुछ सूत्र

लक्ष्य का निर्धारण (Determination of Aim)—सफलता के लिए लक्ष्य का निर्धारण पहली शर्त हैं। बिना लक्ष्य के किया जाने वाला कार्य सफल नहीं हो सकता।

प्राथमिक लक्ष्य—(Priority of Aim)—लक्ष्य-निर्धारण में इस ओर भी ध्यान केंद्रित करें कि मुझे किस कार्य को प्राथमिकता देनी है।

अनिवार्य कार्य पहले करें (First do most urgent work)—सर्वप्रथम यह तय करें कि कौनसा कार्य अनिवार्य है, जिसे अभी करना है। कार्य की पंचवर्षीय या दस वर्षीय योजना भी बनाकर अनिवार्य कार्यों को क्रमबद्ध किया जा सकता है। इस वर्ष कौनसा कार्य अनिवार्य है या इस माह में कौनसा कार्य अनिवार्य है। उनमें महत्त्वपूर्ण कार्य को पहले करें।

भावक्रिया (Complete Awareness)—प्रेक्षाध्यान का यह सूत्र समय-प्रबंधन का भी महत्त्वपूर्ण सूत्र है। जिस समय जो कार्य कर रहे हैं उस समय उसी में पूरा ध्यान रहना। भावक्रिया के तीन अर्थ हैं—वर्तमान में जीना, जानते हुए करना एवं सतत जागरूक रहना। चलते समय चलने में, बोलते समय बोलने में, सुनते समय सुनने में ध्यान रखना भावक्रिया है। अतीत की चिंता व भविष्य की कल्पना से मुक्त रहकर वर्तमान में जीने का सतत अभ्यास करना।

अस्वीकार करना सीखें (Use word 'NO')—जो मना करना नहीं जानता, वह समय का नियोजन नहीं कर सकता। 'ना' कहना भी एक कला है। समय-नियोजन का महत्त्वपूर्ण बिंदु भी है।

टाइम मैनेजमेंट—समय का नियोजन इसलिए आवश्यक है कि हमारा कार्यकाल सापेक्ष होता है। पाश्चात्य चिंतकों ने आत्म-निरीक्षण को ही एक भिन्न नाम दिया—टाइम मैनेजमेंट। इससे हमारे समय की बचत होती है, दूसरों के समय की भी बचत होती है।

जरूरी है कार्यसूची (Make working list)—समय-प्रबंधन के लिए कार्यसूची बनाना भी जरूरी है। सप्ताह में क्या करना है? आज क्या-क्या करना है? इसका निर्धारण भी अपेक्षित होता है। जिनके पास अनेक तरह के कार्य होते हैं, बहुमुखी प्रवृत्तियां चलाते हैं, वे प्रतिदिन के कार्यों की समय-बद्ध सूची भी रखते हैं। सफलता के लिए कार्यसूची जरूरी है। (साभार—समय-प्रबंधन पत्र से)

सफलता का आधार है—समय का नियोजन। कहा गया है कि आठ घंटे पेड़ काटने में लगाने हैं तो छह घंटे कुल्हाड़ी को तेज करने में भी लगाओ। यह समय-नियोजन का विवेक है। समय-समय पर अपने कार्यों का निरीक्षण भी करें। जहां कमजोरियां नजर आएं उन्हें दूर करें। कार्य करते समय यह भी ध्यान रहे कि एक ही परिश्रम दो जगह न हो। दायित्व निर्वाह करने का साहस भी हममें होना चाहिए। तभी हम समय का अंकन कर अपने व्यक्तित्व व कर्तृत्व में निखार ला सकते हैं। आइए, हम आज से ही संकल्प करें कि मैं अपनी जीवन-शैली का समयबद्ध नियोजन करूंगा। जिससे मेरा भविष्य भी उज्ज्वल बनेगा। ❖

भारतीय समाज के समक्ष जो परिवर्तन की चुनौती मुख्य रूप से है वह नए वैज्ञानिक, प्राविधिक और औद्योगिक साधनों के उपयोग की है। किंतु यह परिवर्तन न तो अपने-आप में बुनियादी मूल्यों में परिवर्तन है, न आध्यात्मिक साधनों में। यह आधिभौतिक अभावों को दूर करने की दिशा में नई क्षमता है। अतएव इस नई क्रांति का सही दृष्टि से स्वीकरण भारतीय संस्कृति में परिभाषित समाज का प्रगतिशील रूपांतरण ही होगा जिस का मार्ग स्वाधीनता के पूर्व की शताब्दी में नाना मनीषियों ने प्रशस्त किया है।

—गोविंदचंद्र पांडे

हम असफलता से निराश न हों। असफलताओं से घबराने वाला व्यक्ति जीवन में कभी सफल नहीं हो सकता। कुछ व्यक्ति सोचते हैं कि सफलता भाग्य से मिलती है। ऐसे व्यक्ति लॉटरी खुलने की प्रतीक्षा करते हैं, किंतु सफलता सतत परिश्रम और अच्छी योजना का परिणाम होती है। जब हम अवसर उपलब्ध होने पर पूर्ण तैयारी के साथ आगे बढ़ते हैं, तो सफलता अपने-आप प्राप्त हो जाती है। ज्यादातर लोग सोचते हैं कि सफलता क्षण-भर में मिल जाती है, परंतु ऐसा नहीं है। सफलता एक प्रक्रिया है। सफलता तो एक सतत यात्रा है। छोटी-छोटी सफलताओं से बड़ी-बड़ी सफलताएं प्राप्त होती हैं। सर्वप्रथम हमें छोटी-सी सफलता प्राप्त होती है। हम इसी सफलता को सीढ़ी बनाकर बड़ी सफलता प्राप्त करते हैं।

बन सकते हैं पूर्ण प्रयास और पुरुषार्थ से

सुरेश जैन ❑

जीवन-क्षेत्र में अनेक तरह के उतार-चढ़ाव और सफलता-असफलता आ सकते हैं, लेकिन हर व्यक्ति यही चाहता है कि वह अपने जीवन के हर क्षेत्र में सफलता हासिल करे। हम सभी जानते हैं कि सतत परिश्रम और सद्प्रवृत्ति से सफलता प्राप्त की जा सकती है। हमें इसके लिए सतत जागरूक रहने की जरूरत है। हमारी जागरूकता ही हमारा मार्ग प्रशस्त करने में सहायक हो सकती है। सफलता और श्रेयस् जीवन के लिए हमें बहुत-सी बातों का ध्यान रखना जरूरी है। ये जरूरी बातें क्या हो सकती हैं—हम इन पर विचार करें।

हम अच्छा व्यक्ति बनना चाहते हैं, तो हम अच्छा व्यक्ति बन सकते हैं। अच्छा व्यक्ति बनने के लिए हमें सतत प्रयत्न करना होगा। यदि इंद्रधनुष देखने का सुख प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमको वर्षा की असुविधाओं को सहन करना पड़ेगा। हमारा छोटा-सा उद्देश्य है—हम कुछ बेहतर बनें। परिवार के प्रत्येक सदस्य को बेहतर बनाएं, जिससे कि हम अपनी क्षमता से बेहतर कार्य कर सकें। अपनी ही उपलब्धियों एवं सफलताओं से प्रतियोगिता कर सकें। अपने काम में अधिक सुधार लाकर अपना ही रिकॉर्ड तोड़ सकें। लगातार तरक्की कर सकें। सतत परिश्रम और सद्प्रवृत्तियों से ऊंची-ऊंची सफलताएं प्राप्त कर सकें। सफल महापुरुषों के पदचिह्नों पर चल सकें। जीवन की लड़ाइयां हमेशा तेज और मजबूत व्यक्ति ही नहीं जीतते, बल्कि आज नहीं तो कल वही व्यक्ति जीतते हैं जिन्हें जीतने का विश्वास है। अपनी शक्ति और कर्म में पूर्ण विश्वास रखें। जिससे हम अपनी पूरी इच्छा और क्षमता के साथ जीवन में आगे बढ़ सकें।

हम अपने भीतर छुपे नेतृत्व के गुणों को उभारना चाहते हैं। अपने व्यक्तित्व में विजयी होने का नजरिया विकसित करना चाहते हैं। अपने व्यक्तित्व में कुशलता एवं प्रभावी गुणों की स्थापना करना चाहते हैं। अपने व्यक्तित्व को विकसित करना चाहते हैं। हम अपने व्यक्तित्व के मूल्यांकन में वृद्धि करना चाहते हैं। बेहतर और सफल व्यक्ति बनना चाहते हैं। अपनी विशेष योग्यता की पहचान कर उसे विकसित करना चाहते हैं। हम 'कोच' की भांति अपने में छुपे श्रेष्ठ गुणों को बाहर निकालना चाहते हैं। अपनी क्षमताओं को बाहर निकालना चाहते हैं।

हममें और हमारे परिवार के प्रत्येक सदस्य के व्यक्तित्व में आगे बढ़ने और प्रतिस्पर्धा करने के सभी गुण स्वाभाविक रूप से उपलब्ध हैं। हम इन गुणों को सार्थक और पैना बनाएं। हम परिवार के प्रत्येक सदस्य को नए विचार दें, नव-नूतन प्रशिक्षण दें, आधुनिकतम पठन-पाठन

की सुविधाएं उपलब्ध कराएं। हम कुछ समय अपने परिवार के युवक-युवतियों का 'कैरियर' निश्चित करने में और उसे सुव्यवस्थित तरीके से विकसित करने में लगाएं। उन्हें अपनी रुचि के अनुसार अपनी पसंद के विषय चुनने में मार्गदर्शन एवं सहयोग दें। यदि आवश्यक हो तो उनकी रुचि एवं व्यक्तित्व का विश्लेषण 'कैरियर-काउंसलर' से कराएं।

हम सदैव अपने व्यक्तित्व में अच्छा नजरिया और सकारात्मक प्रवृत्ति विकसित करें। तकनीकी प्रशिक्षण से केवल 15 प्रतिशत सफलता मिलती है। शेष 85 प्रतिशत सफलता अच्छे व्यक्तित्व के कारण ही मिलती है। अच्छे व्यक्तित्व का मूलभूत गुण अच्छा नजरिया है। अच्छी और सकारात्मक प्रवृत्तियां हैं। अतः हम अच्छा नजरिया सीखें, अच्छी प्रवृत्तियां अपनाएं, सकारात्मक प्रवृत्तियां विकसित करें। जिंदगी का युद्ध हमेशा सबसे शक्तिशाली या तेज व्यक्ति नहीं जीतता। वही व्यक्ति जीतता है—जो सोचता है कि वह जीत सकता है। हम अपने जीवन की परिस्थितियों को तुरंत ही परिवर्तित नहीं कर सकते हैं, किंतु हम इन परिस्थितियों को सहजता और सरलता से सहन करने की प्रवृत्ति और शक्ति विकसित कर सकते हैं। हम नकारात्मक वातावरण को नियंत्रित नहीं कर सकते, परंतु हम अपने मस्तिष्क को अपनी इच्छानुसार नियंत्रित कर उसे सकारात्मक ढंग से विकसित कर सकते हैं।

हम सतर्क रहें। संवेदनशील बनें। सही चिंतन करें। सही चिंतन करने वाले व्यक्तियों से मिलें-जुलें। उनकी अच्छी आदतें सीखें। अच्छे कार्यों को बार-बार करके हम अच्छी प्रवृत्तियां और अच्छी आदतें सीखें। प्रतिदिन सही शब्द बोलें, प्रतिदिन अच्छी पुस्तक पढ़ें, प्रतिदिन अच्छा आडियो टेप सुनें, प्रतिदिन अच्छे व्यक्तियों के साथ रहें, प्रतिदिन सही और अच्छा काम करें और प्रतिदिन कुछ क्षण प्रार्थना करें। कभी किसी को नीचा न दिखाएं। किसी की आलोचना नहीं करें। हंसी-मजाक में भी आलोचना नहीं करें। ऐसी आलोचना किसी को स्थाई चोट पहुंचा सकती है। नीचा दिखाने से किसी व्यक्ति का स्वाभिमान और आत्मविश्वास कम हो सकता है। जब कभी भी अवसर मिले—अन्य व्यक्तियों की प्रशंसा करें। अपने से छोटों को बेहतर काम करने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित करें। प्रोत्साहन 'ऑक्सीजन' की भांति उपयोगी होता है। प्रोत्साहन से व्यक्ति अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करते हैं।

हम सदैव स्मरण रखें कि बाहरी साधनों को अपनाकर हम अपने चेहरे की सुंदरता में थोड़ी-सी ही वृद्धि कर सकते हैं, परंतु अपनी दुर्भावनाओं और अपनी दुष्प्रवृत्तियों को नियमित एवं नियंत्रित कर हम अपने व्यक्तित्व की सुंदरता में चतुर्मुखी वृद्धि कर सकते हैं। हमारे जीवन में अल्पताएं, क्षुद्रताएं और दुष्प्रवृत्तियां आकर हमें सफल नहीं होने देती हैं और आगे बढ़ने से रोक देती हैं। हमें महान नहीं बनने देती हैं। इन्हीं अल्पताओं और क्षुद्रताओं के कारण हम दूसरों की अनावश्यक आलोचना करते हैं। इस आलोचना के कारण हम सफलता के पथ से पतित हो जाते हैं। दुष्प्रवृत्तियां हमारे व्यक्तित्व के विकास एवं सफलता के लिए बाधक और अहितकर होती हैं। दुष्प्रवृत्तियों का प्रभाव सर्वप्रथम हमारे ऊपर और इसके पश्चात् हमारे समाज के ऊपर पड़ता है। अतः हम अपने आचरण से दुष्प्रवृत्तियों को बाहर निकालने का सतत और प्रभावी प्रयत्न करें। यह आवश्यक है कि हम अपनी भूलों का निरीक्षण करें। अपने प्रमाद का गहनतापूर्वक परीक्षण करें। अपनी अल्पताओं और क्षुद्रताओं की समीक्षा करें।

भगवान ने हमको बड़ी क्षमता और शक्ति प्रदान की है। अपनी क्षमता और शक्ति का सदुपयोग कीजिए। सर्वप्रथम अपने ऊपर विजय प्राप्त कीजिए। अपने जीवन में आत्म-अनुशासन विकसित कीजिए। आज से ही आत्म-अनुशासन के छोटे-छोटे बिंदु विकसित करना प्रारंभ कर दें, ताकि कल बड़ी सीमा तक अनुशासित हो सकें। पहली इच्छा को नियंत्रित करना सरल है। पहली इच्छा को संतुष्ट कर उसके पीछे-पीछे आने वाली अनके इच्छाओं को संतुष्ट करना संभव नहीं हो पाता है। अतः हम अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करें और अपनी मांगों को सीमित करें। अच्छे उद्देश्यों और अच्छे विचारों को कार्य में बदलें। सफलता की इच्छा, तैयारी करने की इच्छा, प्रशिक्षण लेने की इच्छा, अपने कौशल को निखारने की इच्छा से ही हम आगे बढ़ सकते हैं। सफलता प्राप्त करने के लिए अपने जीवन में सतत रूप से निवेश करें। अपनी क्षमता को पहचानें। उसका समुचित सदुपयोग करें। निष्काम भाव से परिश्रम करें। प्रतिभा हमें स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो जाती है। अच्छा चरित्र हमें धीरे-धीरे बनाना पड़ता है। हम अपनी भावनाओं से नहीं, किंतु अपने चरित्र से संचालित हों। अच्छे विचार, साहस और संकल्प से अच्छा चरित्र और अनुशासित जीवन-शैली बनाएं।

अपने जीवन में व्यवस्थित होकर आत्मविश्वास-पूर्वक आगे बढ़ें। अपने साथियों को सहयोग प्रदान कर उनका विश्वास जीतें। कई बार हमें केवल कुछ करने के

लिए, कुछ करने की आवश्यकता होती है। किसी की सहायता करें। कई बार केवल कर्म में जुटने से ही हमारे जीवन में शक्ति प्रवाहित होने लगती है।

हम असफलता से निराश न हों। असफलताओं से घबराने वाला व्यक्ति जीवन में कभी सफल नहीं हो सकता। कुछ व्यक्ति सोचते हैं कि सफलता भाग्य से मिलती है। ऐसे व्यक्ति लॉटरी खुलने की प्रतीक्षा करते हैं, किंतु सफलता सतत परिश्रम और अच्छी योजना का परिणाम होती है। जब हम अवसर उपलब्ध होने पर पूर्ण तैयारी के साथ आगे बढ़ते हैं, तो सफलता अपने-आप प्राप्त हो जाती है। ज्यादातर लोग सोचते हैं कि सफलता क्षण-भर में मिल जाती है, परंतु ऐसा नहीं है। सफलता एक प्रक्रिया है। सफलता तो एक सतत यात्रा है। छोटी-छोटी सफलताओं से बड़ी-बड़ी सफलताएं प्राप्त होती हैं। सर्वप्रथम हमें छोटी-सी सफलता प्राप्त होती है। हम इसी सफलता को सीढ़ी बनाकर बड़ी सफलता प्राप्त करते हैं।

सफलता केवल इस बात पर निर्भर नहीं करती कि हम अपनी रुचि के कार्यों को कितनी अच्छी तरह से करते हैं, बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि उन कर्तव्यों को कितनी ईमानदारी से निभाते हैं जिनमें हमारी रुचि बहुत कम होती है या बिल्कुल नहीं होती। सफलता का पथ कंटकपूर्ण, ऊबड़-खाबड़, कच्चे रास्तों एवं असफलताओं की पगडंडियों पर ही निर्मित होता है। प्रत्येक सफलता के पीछे असफलता की अनेक कहानियां छिपी रहती हैं। असफलता अपने व्यक्तित्व को गढ़ती है। अपने चरित्र का निर्माण करती है और प्रतिभा को निखारती है। हम सफलता के लिए परिश्रमपूर्वक प्रयत्न करते हैं, तदपि हमें असफलता मिलती है—हमें अपनी ऐसी असफलता साहस के साथ स्वीकार करनी चाहिए। प्राथमिक असफलता ही अगली सफलता की आधारभूमि बनती है। संघर्षशील व्यक्तियों के लिए यह असफलता नया उत्साह और नई प्रेरणा प्रदान करती है। प्रत्येक व्यक्ति तभी तक असफल माना जाता है, जब तक वह पुनः उठकर खड़ा न हो जाए।

हम अपने मन को जीतने के लिए तैयार करें। मन में जीतने की भावना रखें। हारने की प्रवृत्ति को अपने मन से निकाल दें। अपने मन को आशावादी बनाएं। आशावादी प्रवृत्ति महत्त्वपूर्ण संजीवनी है। आशा और विश्वास के सहारे हम भयानक तूफान में चट्टान की भांति अडिग बने रह सकते हैं। असफलता, पराजय और दुखद क्षणों में सहर्ष मुस्कराते हुए आगे बढ़ते रह सकते हैं। आशावादिता हमें बहिर्मुखी बनाती है। स्वस्थ, प्रसन्न और सफल होने में सहयोगी बनाती है। दूसरी ओर निराशा विषाद और अकेलेपन को जन्म देती है। आशावादी व्यक्तित्व प्रत्येक घटना के सकारात्मक पक्षों पर विचार कर निर्णय लेता है और आगे बढ़ता है। निराशावादी व्यक्तित्व प्रत्येक घटना के नकारात्मक पहलुओं का विचार करता है, निर्णय नहीं ले पाता है और पीछे रह जाता है।

यदि जीवन में आगे बढ़ना है तो लक्ष्य हमेशा ऊंचा बनाएं। उद्देश्य कभी छोटा नहीं होना चाहिए। योजना भी छोटी नहीं होनी चाहिए। छोटे लक्ष्य और छोटी योजना से उत्साह नहीं जागता है। बड़ी योजनाएं और बड़े लक्ष्य पूरे होते हैं, क्योंकि उनके पीछे उत्साह और प्रेरणा का बल होता है। विश्व के प्रख्यात चिंतकों ने यही कहा—ऊपर की ओर चलो, लक्ष्य को बड़ा बनाते चलो।

शरीर, मन और मस्तिष्क को क्रियाशील बनाएं। अपने मस्तिष्क को नियमित रूप से मांजते रहें। बौद्धिक विकास के लिए प्रारंभ में सरल और धीरे-धीरे जटिल प्रक्रिया अपनानी चाहिए। कोई भी काम सीखें या करें, उसकी शुरुआत हमेशा सरल चीजों से की जानी चाहिए और धीरे-धीरे कठिन चीजों की ओर बढ़ना चाहिए। इससे मस्तिष्क एक निश्चित गति से काम करता है और उस पर एक साथ अतिरिक्त दबाव नहीं पड़ता है। इससे हम कहीं बेहतर ढंग से चीजों को समझ पाते हैं या कर पाते हैं।

बौद्धिक क्षमता को बढ़ाने के लिए प्रतिदिन अपने सोच एवं कार्यों के बीच के अंतर को जानने और कम करने का प्रयास करें। अपनी सोच के अनुरूप अपने कार्य करें। हम स्वयं का मूल्यांकन करें और अपने मस्तिष्क को पैना और प्रभावी बनाएं। अपने भविष्य की योजनाओं के बारे में सोचें। सरलता से उन्हें व्यवहार में लाने का भी प्रयास करें। जिस समय यह आभास हो जाए कि अपनी सोच के अनुसार लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हो रही है, तब यह समझिए कि अपने मस्तिष्क का पूरा उपयोग हो रहा है। इससे हम अपनी वास्तविक योग्यता को समझ सकते हैं और सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने में सक्षम हो सकते हैं।

हम सदैव कोई-न-कोई रचनात्मक कार्य करते रहें। हम सदैव कुछ नया सीखने का प्रयास करें। हम अपने मस्तिष्क की क्रियाशीलता बनाए रखें। हमारा मस्तिष्क व्यायाम से शक्ति प्राप्त करता है, विश्राम से नहीं। जब कोई बौद्धिक कार्य करने को न हो, तो ऐसे समय खाली

बैठने के बजाए कुछ पढ़ें या बच्चों को पढ़ाएं। नई भाषा या कोई नया काम करना सीखें। आस-पास की चीजों और घटनाओं को ज्यादा-से-ज्यादा जानने का प्रयत्न करें। यह भविष्य के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

शरीर के प्रत्येक अंग के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। व्यायाम के बिना शरीर सुस्त पड़ जाता है। यदि कुछ मानसिक व्यायाम न किया जाए, तो धीरे-धीरे हमारी स्मृति कमजोर हो जाती है। दिमाग की धार को पैना करने के लिए मानसिक व्यायाम आवश्यक है। पूरे दिन क्या किया, किससे मिले—डायरी में लिखें। मौखिक हिसाब—जोड़, गुणा और भाग करने से स्मृति पटल पर दबाव पड़ता है और हमारी गणितीय क्षमता बढ़ती है। पढ़ने में रुचि है, तो लेखक का नाम, किताब का नाम और पृष्ठ संख्या याद करने की कोशिश करें। अंताक्षरी खेलें। दिमाग को थोड़ी मेहनत करवाएं और उसे कुछ नया करने को मजबूर करें। नए रास्ते से दफ्तर जाएं। मस्तिष्क को 20-30 मिनट शांत रखें और पुरानी बातों को याद करें। कुछ कलात्मक करें। घर की सामान्य चीजों को लेकर उनके तरह-तरह के उपयोग के बारे में सोचें। इस प्रक्रिया से दिमाग को नई तरकीबें सूझेंगी। बहुत-सी चीजों के बारे में सोचने पर दिमाग में उथल-पुथल होगी और वह पहले से ज्यादा क्रियाशील बना रहेगा।

गुणवत्तापूर्ण जीवन एवं सफलता प्राप्त करने के लिए हम दूसरों को सदैव कुछ-न-कुछ दें। दूसरों को देने से ही हमें प्राप्ति होती है। सभी के साथ ईमानदारीपूर्ण व्यवहार करें। सभी को उच्च स्तरीय सम्मान दें। दूसरों की सहायता प्राप्त करें। सभी व्यक्तियों की चिंता करें। उन्हें सहयोग दें। उन्हें सहानुभूतिपूर्वक सुनें। उन्हें प्यार करें। उन्हें भावनात्मक सहयोग दें। आगे बढ़ाने के लिए उन्हें प्रेरित करें। किसी विशिष्ट क्षेत्र का विशेष अध्ययन एवं विस्तृत अनुभव यदि हमें हो तो हम अपने विशेष ज्ञान एवं अनुभव का लाभ दूसरों को दें। अन्य व्यक्तियों को अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सहयोग दें। हम अपना लक्ष्य प्राप्त करने में उनका सहयोग प्राप्त करें। सदैव सेवा की भावना रखें। अन्य व्यक्तियों की सेवा से ही हम महानता और महान सफलताएं प्राप्त करते हैं।

हम सदैव समय को बचाने का प्रयास करें। प्रतीक्षा के समय का सदुपयोग करें। सदैव रचनात्मक कार्य करें और समय का सार्थक उपयोग करें। अपनी शारीरिक और मानसिक स्फूर्ति के क्षणों का निर्धारण करें। सर्वोच्च महत्त्व के कार्य इसी समय करें। स्वागत एवं सामाजिक संबंधों के लिए समय निर्धारित करें। बस और ट्रेन में बैठने के समय का उपयोग हलके-फुलके काम करने और पढ़ने में करें। कभी भी बस और ट्रेन में बिना पुस्तक के नहीं बैठें। जब भी 'ट्रैफिक' में फंस जाएं, तो इस पुस्तक को बाहर निकालकर पढ़ें। विचारों को लिखने के लिए 'नोट-पैड' भी रखें। इस प्रकार हम व्यक्तिगत विकास और काम के लिए कुछ अतिरिक्त घंटे हासिल कर सकते हैं। ब्रश करते समय अच्छी बातें स्मरण करें। स्नान करते समय अच्छे गीत गुनगुनाएं।

दो रास्ते हैं—जिन पर लोग जा सकते हैं। या तो अभी ऐश करके बाद में कीमत चुका सकते हैं या फिर अभी कीमत चुकाकर बाद में ऐश कर सकते हैं। चाहे कोई भी विकल्प चुनें, एक बात तो तय है कि जिंदगी कीमत तो मांगेगी। जब हम बाद में कीमत चुकाते हैं, तो कीमत ज्यादा होती है। अतः यह उपयुक्त होगा कि अभी कीमत चुकाएं और बाद में ऐश करें।

अपने परिवार के युवा सदस्यों में कार्यकुशलता विकसित करें। यदि युवा अवस्था में ही कार्यकुशलता का गुण अपना लिया जाए तो यह 'कैरियर' निर्माण और 'कैरियर' को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध होगा। सीमित साधनों में बेहतर सफलता हासिल की जा सकती है। कार्यकुशल बनकर एक ओर व्यक्तिगत सफलता प्राप्त होती है और दूसरी ओर समाज में भी प्रतिष्ठा मिलती है। कार्यकुशलता आजीवन सफलता का मार्ग प्रशस्त करती है।

हम अपने प्रभु के समीप रहें। ऐसे व्यक्तियों से दूर रहें जो हमारी महत्त्वाकांक्षाओं को छोटा करना चाहते हैं। छोटे व्यक्ति सदैव महत्त्वाकांक्षाओं को छोटा बनाने का प्रयास करते हैं। भले व्यक्ति सदैव बड़ा बनाते हैं और यह अनुभव करा देते हैं कि हम बड़े बन सकते हैं। अतः सदैव अच्छे और भले व्यक्तियों के साथ रहें।

अंत में यह स्मरण रखें कि इस विश्व में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति अपूर्ण है। स्वर्ण सुगंध और चंदन पुष्प के बिना अपूर्ण हैं। विद्वान धन के बिना और धनवान विद्वत्ता के बिना अपूर्ण हैं, तदापि हम अपने प्रयास एवं पुरुषार्थ से पूर्ण बनने के लिए प्रयत्न करें। ईमानदारी और सत्य को हम अपनी दिनचर्या और दैनिक जीवन में सम्मिलित करें। संवेदनशील बनें, निरंतर पुरुषार्थ करें, संकल्प लें और सतत रूप से धीरे-धीरे आगे बढ़ते रहें। सफलता अवश्य मिलेगी। ❖

तितली की सीख

प्रदीप पंत ❑

गौरांग को लगा, इस बात का उसके पास कोई जवाब नहीं है। सचमुच मनुष्य ने प्रगति तो बहुत की है, लेकिन प्रगति करने के साथ ही साथ वह स्वार्थी भी हो गया है। हर कोई, बस, अपने ही बारे में सोचता है। यही नहीं, जिनके पास पैसा है, वे ठाठ से रहते हैं और जो गरीब हैं, वे झोंपड़ियों में रहने के लिए मजबूर हैं। यहां की तरह नहीं कि हर तितली चाहे जिस फूल पर बैठ जाए। यहां तो सब समान हैं। किसी फूल को भी इस पर आपत्ति नहीं कि लाल परों वाली तितली उस पर आकर क्यों बैठी, उसकी पंखुड़ियां तो केवल नीले परों वाली तितली के लिए हैं।

पंद्रह-सोलह साल का गौरांग झोंपड़ी में रहता था और आस-पास की झोंपड़ियों के बच्चों के साथ हर दिन जंगल में जाकर लकड़ियां बीन कर लाता था। एक दिन आस-पास का कोई बच्चा नहीं मिला तो वह अकेले ही जंगल की ओर चल पड़ा।

जंगल में गौरांग ने लकड़ियां तो बीन लीं, लेकिन वह लौटने का रास्ता भूल गया। उसकी समझ में नहीं आया कि वह लौटे कैसे? इसी बीच शाम हो गई। जंगल में वैसे ही अंधेरा रहता था, शाम हो जाने पर एकदम ही अंधकार छा गया। गौरांग घबरा उठा। उसने लकड़ियों का गट्ठर एक तरफ फेंका और तेजी से चलने लगा। लेकिन घर की ओर जाने का रास्ता मिला ही नहीं।

'अब क्या किया जाए?' उसने मन-ही-मन अपने से पूछा। गौरांग को अपने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला। लेकिन रात के समय जंगल में ठहरने का कोई मतलब न था। कोई भी खतरनाक जानवर आकर उसे मार डालता। उसे लग रहा था कि मौत सामने खड़ी है। किसी तरह गिरता-पड़ता वह चलता ही रहा। इसी तरह चलते-चलते सवेरा हो गया। गौरांग ने चैन की सांस ली कि किसी खतरनाक जानवर ने आकर उसे अपना शिकार नहीं बनाया।

पौ फटने पर गौरांग ने देखा कि वह एक पहाड़ी ढलान पर है। इस ढलान पर अद्‌भुत दृश्य था। लगता था, मानो वह किसी आश्चर्य-लोक में पहुंच गया है। चारों तरफ रंग-बिरंगे, छोटे-बड़े फूल खिले हुए थे। कुछ तितलियां फूलों पर पंख पसारे बैठी थीं। लाल सुर्ख फूल पर नन्ही-सी नीली तितली या पीले छोटे-से फूल पर बड़े-बड़े परों वाली तितली को देखकर वह आश्चर्य में पड़ गया। किसी एक जगह पर इतने-सारे तरह-तरह के फूलों और तरह-तरह की तितलियों को उसने पहले कभी देखा ही नहीं था। देखना तो दूर, ऐसे मनोरम स्थान की उसने कभी कल्पना तक नहीं की थी। चारों तरफ वातावरण फूलों की गंध से महक रहा था, मानो किसी ने चुपचाप इत्र छिड़क दिया हो।

फूलों और तितलियों के इस आश्चर्य-लोक में पहुंचकर उसकी रात-भर की थकान तो जाती ही रही, वह अपनी झोंपड़ी और घरवालों को भी भूल गया। उसका मन कह रहा था कि क्या ही अच्छा होता अगर

उसे जीवन-भर यहीं रहने का मौका मिला जाता।

फूलों पर मंडराती तितलियों में से कुछ उसके कंधों पर आकर बैठ गईं। जाने कैसे वे उसके मन की बात भी समझ गईं। गौरांग की खुली हथेली पर बैठकर पंख खोलती और बंद करती बैंगनी तितली ने उससे पूछा, 'क्यों यहीं रहने का मन कर रहा है?'

अरे, ये तितलियां मनुष्यों की तरह बोल भी लेती हैं! गौरांग तितली की बात सुनकर आश्चर्य में पड़ गया। उसने तितली से पूछा, 'मेरे मन की बात तुम्हें कैसे पता चली?'

'हम प्रकृति के बीच रहने वाले प्राणी हैं। हमारा मन निर्मल है। निर्मल मन वाले को किसी के भी मन की बात पता चल जाती है।' बैंगनी तितली ने कहा।

'कमाल है!' गौरांग के होंठों से निकला।

इसी बीच वह तितली उड़ गई। उसने तितली को पंख खोलते-बंद करते हुए उड़ते देखा। फिर उसने अपने कंधों पर गर्दन मोड़कर नजर डाली। जो तितलियां थोड़ी देर पहले बैठी थीं, अब उनके स्थान पर दूसरी तितलियां आकर कंधों पर बैठ गई थीं। वह यह सब देखकर कुछ सोच ही रहा था कि तभी एक तितली उसकी दाईं हथेली पर आ गई और पंख खोलते-बंद करते हुए उसने गौरांग से कहा, 'लगता है तुम जंगल के उस पार मनुष्य-देश से आए हो।'

गौरांग फिर आश्चर्य में पड़ गया। अरे, यह तितली भी बोल रही है!

'हां, मैं मनुष्य-देश से आया हूं।' गौरांग ने कहा और साथ ही पूछ डाला, 'ऐ तुमने देखा है क्या जंगल के उस पार मनुष्य-देश को?'

'हां देखा है।' तितली बोली, 'एक बार भटकती हुई चली गई थी वहां। बड़ी मुश्किल से लौट सकी।'

'क्यों भला?' गौरांग ने पूछा।

'मनुष्य-देश के वातावरण के कारण।' तितली बोली, 'चारों तरफ भीड़ ही भीड़ है वहां। इतना ही नहीं, हर तरफ कूड़ा, धुआं, शोर, मारा-मारी, आपाधापी। यह सब तो है मनुष्य-देश में।'

'तुम्हारी बात ठीक है, तितली रानी!' गौरांग ने कहा, 'लेकिन और भी बहुत-कुछ है मनुष्य-देश में। विज्ञान के बड़े-बड़े आविष्कार, कल-कारखाने, मीलों की दूरी चंद मिनटों में ही नाप लेने के लिए हवाई जहाज। सैकड़ों मील की दूरी एक ही रात में तय कर लेने के लिए रेलें, बसें। बहुत-कुछ है मनुष्य-देश में।'

'हां, सो तो है। लेकिन जितनी अच्छाइयां हैं, उनसे कई गुना ज्यादा बुराइयां हैं वहां।' तितली बोली, 'कोई किसी की परवाह नहीं करता। सब स्वार्थी हो गए हैं।'

गौरांग को लगा, इस बात का उसके पास कोई जवाब नहीं है। सचमुच मनुष्य ने प्रगति तो बहुत की है, लेकिन प्रगति करने के साथ ही साथ वह स्वार्थी भी हो गया है। हर कोई, बस, अपने ही बारे में सोचता है। यही नहीं, जिनके पास पैसा है, वे ठाठ से रहते हैं और जो गरीब हैं, वे झोंपड़ियों में रहने के लिए मजबूर हैं। यहां की तरह नहीं कि हर तितली चाहे जिस फूल पर बैठ जाए। यहां तो सब समान हैं। किसी फूल को भी इस पर आपत्ति नहीं कि लाल परों वाली तितली उस पर आकर क्यों बैठी, उसकी पंखुड़ियां तो केवल नीले परों वाली तितली के लिए हैं।

'तुम बिल्कुल ठीक सोच रहे हो।' एक फूल की तरफ से आवाज आई, 'हमारे यहां कोई भेदभाव नहीं।'

गौरांग के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। तितलियां तो तितलियां, यहां तो फूल भी बोलते हैं! इसकी तो उसने कभी कल्पना तक नहीं की थी। वह सोचने लगा, मैं कहीं सपना तो नहीं देख रहा। उसने आंखों पर हथेली फिराई। नहीं, मैं सपना नहीं देख रहा हूं—उसने अपने से मन-ही-मन कहा। तभी अचानक उसे अपनी झोंपड़ी की याद आने लगी। वह सोचने लगा, मेरे मां-बाप परेशान हो रहे होंगे। चारों तरफ मुझे ढूंढ़ने के लिए लोग भागे-भागे फिर रहे होंगे। क्या पता यह सोचकर मां-बाप का बुरा हाल हो कि जंगल में कोई जानवर मुझे मारकर खा गया होगा। उन्हें पता ही नहीं होगा कि मैं कितने मीठे, रंगारंग सपनों जैसे संसार में हूं, जहां चारों ओर फूलों की छटा और महक है, तितलियां पंख हिलाती-डुलाती भागती फिर रही हैं,

किसी के बीच कोई भेदभाव नहीं है, कोई छोटा-बड़ा नहीं है।

अपनी झोंपड़ी की याद आते ही गौरांग रोने लगा। तभी बड़े पंखों वाली एक बुजुर्ग तितली ने उसके गालों को चूमते हुए उससे कहा, 'रोओ मत मेरे बच्चे! हमें मालूम है, जो जहां रहता है, उसे वहीं अच्छा लगता है।'

आंसुओं को पोंछते हुए गौरांग बोला, 'नहीं, ऐसी बात नहीं है। प्रकृति के बीच बसे आप लोगों के रंग-बिरंगे, खुशियोंभरे संसार के सामने मेरी झोंपड़ी और उसके आस-पास का वातावरण कुछ भी नहीं है, लेकिन मुझे तो यह सोचकर रोना आ रहा है कि मेरे मां-बाप परेशान होंगे। वे सोच रहे होंगे कि मैं जंगल से लकड़ी लेकर लौटा क्यों नहीं? उन्होंने मेरे दुख में कल रात चूल्हा भी नहीं जलाया होगा।'

बुजुर्ग तितली ने पंख हिलाते-डुलाते हुए गौरांग से कहा, 'घबराओ मत! घबराने से काम भी नहीं चलता। तुम अपनी झोंपड़ी में, अपने मां-बाप के पास लौटना चाहते हो न!'

'हां।' गौरांग बोला।

'तो ठीक है। मैं अभी इंतजाम करती हूं।' बुजुर्ग तितली ने कहा और वह उड़ गई।

कुछ ही क्षण बाद अनेक रंग-बिरंगी तितलियों का एक पूरा झुंड उसके इर्द-गिर्द इकट्ठा हो गया। तभी बुजुर्ग तितली ने आकर उन्हें कुछ आदेश दिया और फिर गौरांग से कहा, 'लो, तुम्हें तुम्हारे घर तक छोड़ने का इंतजाम कर दिया है। चार तितलियां तुम्हारे आगे-आगे उड़ती जाएंगी। तुम इनके पीछे-पीछे चलना। ये तुम्हें तुम्हारे गांव के छोर तक छोड़कर लौट आएंगी।'

इसी बीच तितलियों के झुंड ने बुजुर्ग तितली को घेर लिया। जानते हो क्यों? उनमें हरेक गौरांग को उसके गांव के छोर तक छोड़ने के लिए जाना चाहती थी। बड़ी मुश्किल से बुजुर्ग तितली ने उन्हें समझाया-बुझाया और मनाया और चार तितलियों को चुनकर गौरांग के साथ भेजा। साथ ही बुजुर्ग तितली ने गौरांग से कहा, 'अपने गांव में जाकर चारों ओर का वातावरण सुंदर बनाने की कोशिश करना। कोई गंदगी, कूड़ा-करकट न रहे, खूब पेड़-पौधे लगाओ। इसी में मानव जाति की भलाई है। ऐसा नहीं करोगे तो एक दिन मनुष्य की सारी प्रगति एक तरफ धरी रह जाएगी और सब-कुछ नष्ट हो जाएगा।'

गौरांग ने वचन दिया, 'मेरे से जितना हो सकेगा, आपकी सीख का पालन करूंगा। अपने साथियों को भी आपकी सलाह पर चलने के लिए राजी करूंगा।'

और चार रंग-बिरंगी, हंसती-खिलखिलाती, पंख पसारती तितलियों के पीछे-पीछे गौरांग अपने गांव की ओर लौट चला। ❖

हिंसा अमानवीय और जीवन तथा चेतना की विरोधी प्रवृत्ति है, इसी से यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि मूलतः अहिंसा एक ऐसी मानवीय प्रवृत्ति है जो न केवल मनुष्य को पाशविकता के स्तर से ऊपर उठाती है बल्कि उसे पूरे जीवन के साथ अस्तित्वगत ऐक्य का अनुभव करवाती है। यही भाव अहिंसा का मूल भाव है और चेतना के विकास का मतलब इस मूल भाव का गुणोत्कर्ष होते जाना है। इसलिए अहिंसा कोई निषेधात्मक विचार नहीं, बल्कि यह मनुष्य होने की मूल शर्त है। जो लोग यह कहते हैं कि हिंसा मनुष्य के स्वभाव में है, वे यह भूल जाते हैं कि मनुष्य अभी भी विकास की प्रक्रिया का एक स्तर है और आगे का विकास हिंसा पर नहीं, अहिंसा के भाव पर आधारित है। मनुष्य नाम का जीव जितना अधिक अहिंसक होता जाएगा, उतना ही वह आर्थी संदर्भ में मनुष्य होता जाएगा और उसी में से उस के भावी विकास की दिशा भी खुलेगी। हिंसा विकासशील मनुष्य में छिपे पशु का स्वभाव हो सकती है, पर मनुष्य का मूल स्वभाव नहीं हो सकती। मनुष्य का मूल स्वभाव तो अहिंसा ही रही है।

नन्दकिशोर आचार्य

जय तुलसी फाउंडेशन

उच्च शिक्षा हेतु छात्रवृत्ति एवं वित्तीय सहयोग
सत्र 2004-2005

मेधावी छात्रों को उच्च शिक्षा के लिए वित्तीय सहयोग देने की एक योजना के अंतर्गत आवेदन पत्र आमंत्रित किए जाते हैं।

1. भारत सरकार की उच्च प्रशासनिक सेवाओं में आईएएस, आईएफएस, आईपीएस, आईएएएस, आईआरएस, आईईएस, सीएसएस (IAS, IFS, IPS, IAAS, IRS, IES, CSS) तथा इसके समकक्ष की तैयारी हेतु।
2. मेधावी छात्र उच्च शिक्षा के निम्नांकित क्षेत्रों में अध्ययन के लिए भी वित्तीय सहायता के पात्र होंगे :

   अ. चिकित्सा शिक्षा जैसे—एमबीबीएस, एमएस, एमडी, (MBBS, MS, MD) अथवा समकक्ष स्नातकोत्तर उपाधि पाठ्यक्रम।

   ब. तकनीकी शिक्षा अथवा इंजीनियरिंग की किसी भी शाखा में स्नातकोत्तर उपाधि (सूचना तकनीकी सहित)।

   स. विज्ञान अथवा तकनीकी विषयों में स्नातकोत्तर उपाधि।

   द. एमबीए (MBA) उपाधि हेतु अहमदाबाद, कोलकाता, बैंगलोर, जमशेदपुर, हैदराबाद अथवा इनके समकक्ष स्थानों में प्रवेश लेने वाले छात्र।

वित्तीय सहयोग के इच्छुक छात्र विस्तृत जानकारी एवं आवेदन पत्र हेतु संपर्क करें—

बच्छराज चिण्डालिया
समन्वयक
जय तुलसी फाउंडेशन
अणुव्रत भवन, 210, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग
नई दिल्ली 110002
फोन : 23235576, 23231363, 9868119071
फैक्स : 23237638

With best compliments from :

Our Respectful Homage to...

Late H. RATANCHAND NAHAR

RATANCHAND RAMESHCHAND

HIRE PURCHASE FINANCIERS FOR :

ALL VEHICLES

Head Office

"HEERAA MANSION"
20, GENERAL MUTHIA MUDALI STREET
SOWCARPET, CHENNAI 600079
Telephone Nos. : 25366570 / 25366573

Branch Office

BANGALORE : "RATAN MANSION", 35 (OLD No.: 170)
VIth Cross, Gandhi Nagar, BANGALORE 560009
Telephone : 22250825, 22265751 Telefax : 080-22256738
e-mail:ramepav@bgl.vsnl.net.in.

Our Associates

- **H. RATANCHAND NAHAR & SONS**
- **SITA AUTO FINANCE**
- **RAMESHCHAND PAVANCHAND**
- **RAMESHCHAND NAHAR & SONS**
- **SHOBA CREDIT CORPORATION**
- **PAVAN INVESTEMENTS**
- **ANJANA INVESTMENTS**

जैन भारती, अक्टूबर, 2004 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

Pigeon™

Top Quality
Unbeatable Price

Wick Stove

3 Ltr. SS

Solo

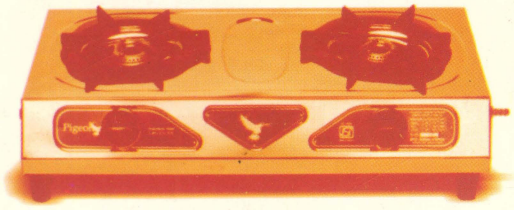
Duo (Two Burner)

7.5 Ltr. SS

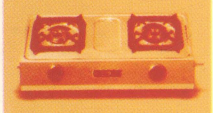
Cute

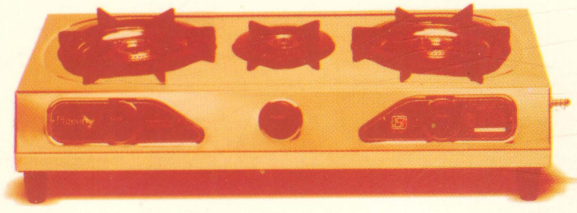
Trio (Three Burner)

10 Ltr. SS

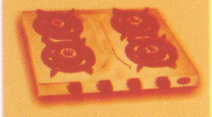
Hob

IS : 4246
CM/L 6231958

12 Ltr. SS

Junior
SS Pressure Pan WOL

Junior
SS Pressure Pan WL

Senior
SS Pressure Pan WOL

Senior
SS Pressure Pan WL

Chefmate
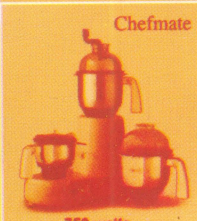
750 watts
High power motor

Stovekraft Pvt. Ltd.
58/2, Chickalasandra Subramanyapura Road, Bangalore 560061 INDIA
PH : (080) 26663256, 26665319, 26662861 Fax : (080) 26669555
Email : Vardhman@bgl.vsnl.net.in Website : www.vardhmanenterprises.com

A quality product of Stovekraft

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।